

ओ३स् ॥

ॐ १३१८

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजंसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यंत उत शुद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० ११

प्रिय[मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।

प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शुद्र और आर्य मैं ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम धीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजोरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री परिडत क्षेमकरणादास त्रिवेदिना
निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः परिडत काशीनाथ चाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारो ग्रन्थकारेण स्वार्थीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ, } संवत् १९६६ वि० । { मूल्यम् १।
१००० पुस्तकानि । } सन् १९१२ ई० । {

शुभ समाचार ॥

निःसन्देह अब वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें। भारतीय और अन्य देशीय विद्वान भी वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं। हमारा विचार है कि वेदों का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अन्य मूल्य भाष्य प्रस्तुत हो, जिस से सब लोग स्वाध्याय [वेदों के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें। परमेश्वर के अनुग्रह से वह मतारथ सिद्ध होना लगा है, अर्थात् निम्न लिखित वैदिक ग्रन्थ उपस्थित हैं, और हाँते जाते हैं:

अथर्ववेद भाष्य ।

१— जिस भाष्य की इतने दिनों से प्रतीक्षा हो रही थी, जिस चौथे ब्रह्म वेद के स्वाध्याय करने के लिये आप को बड़ी लालसा लगी हुई थी, इस जिस के लिये बहुत से महाशयों के नामों से ग्राहक सूची पूरित है, उस वेद का प्रथम काण्ड अब सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की परम कृपा से सरल भाषा में सान्वय पदार्थ, भावार्थ, टिप्पणी, अनुकूप मन्त्र, श्लोक आदि, और संस्कृत में व्याकरण, निरुक्त आदि सहित आप के सामने विद्यमान है। इस के साथ अथर्ववेद भूमिका भी है जिस में सायण भाष्य और अथर्ववेद विस्तार आदि उपयोगी विषयों का वर्णन है। बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ २०२ मूल्य १।)

२—अथर्ववेद भाष्य, काण्ड २—इसी प्रकार बहुत शीघ्र छपकर प्रकाशित होगा। मूल्य प्रथम काण्ड के लग भग होगा।

३—अथर्ववेद भाष्य संपूर्ण—अथर्ववेद में २० काण्ड हैं, कोई लोहा है कोई बड़ा। भाष्य पूरे एक एक काण्ड का छपता है जिस से उस काण्ड का पूरा विषय जान पड़े। प्रत्येक काण्ड का मूल्य उसके विस्तार के अनुक्रम होगा। जो महाशय सनातन वेदविद्या के प्रेमी अपने नाम पूरे भाष्य के लिये ग्रन्थ छपने से पूर्व ग्राहकसूची में लिखावेंगे, उनको नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक छपने पर धी० पी० द्वारा भेजी जाया करेगी।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग (ALLAHABAD.)

ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।

प्रियं सर्वस्य पश्यंत उत शुद्र उतार्य ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० २५ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज, समाज में
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शुद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादि प्रमाणा समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुरुमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री परिडत क्षेमकरणादास त्रिवेदिना
निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes; make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः परिडत काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारो ग्रन्थकारेण स्नाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्ती, } संवत् १९६६ वि० । { मूल्यम् १।
१००० पुस्तकानि । } सन् १९१२ ई० । {

विषय सूची ।

विषय ।	पृष्ठ ।	विषय ।	पृष्ठ ।
अथर्ववेद भाष्य भूमिका ।		अपना भाष्य ।	१०
१-ईश्वर स्तुति प्रार्थना ।	१	४-ऋषि, देवता, छन्द ।	११
२-वेद ।	२	१०-निवेदन ।	११
३-अथर्ववेद ।	३	११-सूक्त, मन्त्र, चक्र ।	१२
४-अथर्ववेद विस्तार ।	७	सूक्त विवरण, काण्ड ?	१७
५-सूक्त भेद ।	६	अथर्ववेद, काण्ड ? के मन्त्र अन्य	
६-अनुवाक ।	६	वेदों में ।	१८
७-सायणभाष्य असंपूर्ण है ।	६	अथर्ववेदभाष्य काण्ड ? ।	१-१७८
८-अथर्ववेद पुस्तकें और			

सङ्केत सूची ।

सङ्केत	सङ्केत विषय	सङ्केत	सङ्केत विषय
अ०, अथर्व० = अथर्ववेद, काण्ड, सूक्त, मन्त्र ।		पु० = पुंल्लिङ्ग ।	
अथ्य० = अथ्यय ।		पृथो० = पृथोदरादि ।	
आ० प० = आत्मने पदी ।		य०, यजुः = यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र ।	
उ० = उणादिकोष, पाद, सूत्र (स्वामी दयानन्द सरस्वती संशोधित) ।		श० क० हु० = शब्दकल्पद्रुमकोष, राजा शशिकान्तदेव बहादुर विरचित ।	
ऋ० = ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र ।		शं० स्तो० म० नि० = शब्दस्तोममहानिधि कोष, श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य सङ्कलित ।	
क्रि० = क्रिया ।		सा० वे० = सामवेद, पूर्वार्चिक, प्रपाठक, दशति, मन्त्र । उत्तरार्चिक, प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त वा वृच ।	
त्रि० = त्रिलिङ्ग (विशेषण) ।		(), इस कोष्ठ में मन्त्र के शब्द हैं ।	
न० = नपुंसकलिङ्ग ।		[], ऐसे कोष्ठ के शब्द व्याख्या वा अध्याहार हैं ।	
नि०, निरु० = निरुक्त, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत) ।		०—... = अन्त के भाग में पूर्व भाग मिलाकर पूरा पद कर्त्तों, जैसे अश्विना = ०-नौ = अश्विनौ ।	
निघ० = निघण्टु, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत) ।			
प० प० = परस्मैपदी ।			
पा० = पाणिनीय व्याकरण-अष्टाध्यायी, अध्याय, पाद, सूत्र ।			

॥ अथर्व ॥

अथर्ववेदभाष्यभूमिका ॥



१-ईश्वरस्तुतिप्रार्थना ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व १^१ यस्य च केवलं तस्मै^१ ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

अथर्व० का० १० सू० ८ म० १ ॥

(यः) जो परमेश्वर (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का, (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब संसार का (च) अवश्य (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है । (च) और (स्वः) सुख (यस्य) जिस का (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सब से बड़े (ब्रह्मणे) ब्रह्म, जगदीश्वर को (नमः) नमस्कार है ॥

हे परमपिता, परमान्मन् ! आप, भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सब जगत् के स्वामी हैं, आप केवल आनन्द स्वरूप और अनन्त सामर्थ्य वाले हैं । हे प्रभु ! आप हमारे हृदय में सदा विराजिये, आप को हमारा बारम्बार नमस्कार है ॥

यामृषयो भूतकृते मेधां मेधाविने विदुः ।

तथा मामद्य मेधयाग्ने मेधाविने कृणु ॥ २ ॥

अथर्व० का० ६ सू० १०८ म० ४ ॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर ! (याम्) जिस (मेधाम्) धारणवती बुद्धि का (भूतकृतः) यथार्थ काम करने हारे, (मेधाविनेः) इष्ट

बुद्धि वाले , (ऋषयः) वेद का तत्त्व जानने वाले ऋषि , (विदुः) ज्ञान रत्नते हैं , (तथा) उस (मेधया) अचल बुद्धि से (माम्) मुझ को (अथ) आज (मेधाविनम्) अचल बुद्धि वाला (कृणु) कर ॥

हे सर्वविद्यामय जगदीश्वर ! आप के अनुग्रह से वह दृढ़ निश्चल बुद्धि हमारे हृदय में विराजमान रहे जैसी धार्मिक , विवेकी, परंपकारी ऋषि महात्माओं की होती है, जिस से हमें वेदों का यथार्थ ज्ञान हो और हम संसार भर में उसका प्रकाश करें ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो
जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु
ज्योगे व दृशेम सूर्यम् ॥ ३ ॥

अथर्व० का० १ सू० ३१ म० ४ ॥

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) हांवे , और (गोभ्यः) गौंओं के लिये, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द हांवे । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम पेश्वर्य और (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो , (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥

हे परम रक्षक परमात्मन् ! हमें वेद विज्ञान दीजिये जिस से हम अपने कर्तव्य को समझें और करें , अपने हितकारी माता पिता आदि सब परिवार, सब मनुष्यों , सब गौ आदि पशुओं , और सब संसार की सेवा कर सकें , और सब के आनन्द में अपना आनन्द जानें , और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब कामों को सुख से करते हैं, वैसे ही, हे प्रकाशमय, ज्ञान स्वरूप, सर्वान्तर्यामी प्रभु ! आप के ध्यान में मग्न होकर हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥

२-वेद ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जाज्ञिरे ।

छन्दांसि जाज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् जायत ॥ १ ॥

ऋ० १० । ६० । ६, यजु० ३१ । ७, तथा अथर्व० १६ । ६ । १३

(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय और (सर्वहुतः) सब के ग्रहण करने योग्य परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुणप्रकाशक विद्या] के मन्त्र और (सामानि) साम वेद [मोक्ष विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये । (तस्मात्) उस से (छन्दांसि) अथर्ववेद [आनन्ददायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, और (तस्मात्) उस से ही (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

यस्माद्दृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादुपाकषन् । सा-
मानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् । स्कम्भं
तं ब्रूहि क्तमः स्वदेव सः ॥ २ ॥

अथर्व० का० १० । सू० ७ । म० २० ॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋचः) पदार्थों के गुणप्रकाश मन्त्रों को (अप-अतक्षन्) उन्होंने [ऋषियों ने] सूक्ष्म किया [भले प्रकार विचारा], (यस्मात्) जिस ईश्वर से प्राप्त करके (यजुः) सत्कर्मों के ज्ञान को (अप-अकषन्) उन्होंने कस, अर्थात् कसौटी पर रक्खा, (सामानि) मोक्ष विद्यायें (यस्य) जिस के (लोमानि) रोम के समान व्यापक हैं, और (अथर्व-अङ्गिरसः) अथर्व अर्थात् निश्चल जो परब्रह्म है उसके ज्ञान के मन्त्र (मुखम्) मुख के समान मुख्य हैं, (सः) वह (एव) निश्चय करके (क्तमःस्वित्) कौन सा है । [इसका उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) खंभ के समान ब्रह्मांड का सहारा देने वाला ईश्वर (ब्रूहि) तू कह ॥

इस से सिद्ध है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत हैं, और चारों वेद सामान्यता से सार्वलौकिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य मात्र और सब संसार के लिये कल्याणकारक हैं ॥

उस परम पिता जगदीश्वर का अति धन्यवाद है कि उसने संसार की भलाई के लिये सृष्टि के आदि में अपने अटल नियमों को इन चारों वेदों के द्वारा प्रकाशित किया । यह चारों वेद एक तो सांसारिक व्यवहारों की शिक्षा से परमात्मा के ज्ञान का, और दूसरे परमात्मा के ज्ञान से सांसारिक व्यवहारों का उपदेश करते हैं । संसार में यही दो मुख्य पदार्थ हैं जिन की यथार्थ प्राप्ति और अभ्यास पर मनुष्य मात्र की उन्नति का निर्भर है । इन चारों वेदों को ही त्रयी

विद्या [तीन विद्याओं का भण्डार] कहते हैं । जिस का अर्थ परमेश्वर के कर्म उपासना और ज्ञान से संसार के साथ उपकार करना है ।

वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणामिच्छते ॥ १ ॥

अथर्ववेद-का० ११, सू० ५, म० १७ ।

(ब्रह्मचर्येण) वेदविचार और जितेन्द्रियता रूपी (तपसा) तप से (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राज्य की (वि) अनेक प्रकार से (रक्षति) रक्षा करता है । (आचार्यः) अंगों और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्यापक, आचार्य (ब्रह्मचर्येण) वेद विद्या और इन्द्रियदमन के कारण (ब्रह्मचारिणम्) वेद विचारने वाले जितेन्द्रिय पुरुष से (इच्छते) प्रेम करता है, अर्थात् वेदों के यथावत् ज्ञान, अभ्यास, और इन्द्रियों के दमन से मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति की परा सीमा तक पहुँच जाता है ॥

भगवान् कणादमुनि कहते हैं-वैशेषिक दर्शन, अध्याय ६, आह्निक १, सूत्र १ ॥

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है [अर्थात् वेद में सब बातें बुद्धि के अनुकूल हैं] ॥

परिडत अन्नम्भट्ट तर्कसंग्रह पुस्तक के शब्दखण्ड में लिखते हैं ।

वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च । वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम् । लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् ।

वाक्य दो प्रकार का है, वैदिक और लौकिक । वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सब ही प्रमाण है । लौकिक वाक्य केवल सत्यवक्ता पुरुष का वचन प्रमाण है ॥

मनु महाराज मनुस्मृति में लिखते हैं ।

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१॥२॥१६६॥

द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] में श्रेष्ठ पुरुष, [ब्रह्मचर्य आदि] तप तपना हुआ, वेद ही का नन्दा अभ्यास करे। वेदों का अभ्यास ही पण्डित पुरुष का परम तप यहां [इस जन्म में] कहा जाता है ॥ १ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥२॥ १२।९७॥

चार वर्ण [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र] तीन लोक [स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूलोक], चार आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास], और भूत, वर्तमान और भविष्यन्, अलग अलग सब वेद से प्रसिद्ध होता है ॥ २ ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदहति ॥३॥ १२।१०८॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापति के अधिकार, और राज्य, और भी दण्ड देने के पद, और सब लोगों पर आधिपत्य [चक्रवर्ति राज्य] के योग्य होता है ॥ ३ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो घत्रतत्राश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥४॥ १२।१०९॥

वेद शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, यह इस लोक [जन्म] में ही रहकर मोक्ष [परम आनन्द] पद के लिये योग्य होता है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार सब शास्त्रों में वेदों की अपूर्व महिमा का वर्णन है ।

इन दिनों प्रत्येक मनुष्य वेद वेद प्रकार रहा है। जर्मनी, इंग देश आदि विदेशों में वेदों का चर्चा फैल रहा है। वेदों के भिन्न-भिन्न भागों के अनुवाद भी अंग्रेजी, लेटिन, जर्मन आदि भाषाओं में वहां के विद्वानों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार किये हैं। मट्ट त्रिफुलिथ साहिव ने चारों वेदों का अंग्रेजी अनुवाद वैदिक छन्दों में छन्दोबद्ध किया है। महर्षि श्रीमहयानन्द सरस्वती का वेद विषयक परिश्रम सुप्रसिद्ध है। उन के रचे निम्नलिखित वैदिक ग्रन्थ महा उपकारी हैं ।

१-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।

२-ऋग्वेदभाष्य [जो मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र २ तक हुआ है] ।

३-यजुर्वेदभाष्य ।

४-सत्यार्थप्रकाश ।

अन्य भी विद्वानों श्री सायणाचार्य आदि ने वेदों की रक्षा और व्याख्या के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, और अब भी विद्वान् लोग परिश्रम उठा रहे हैं ॥

३—अथर्ववेद ॥

ऊपर कह आये हैं कि ईश्वरकृत चारों वेदों में से अथर्ववेद एक वेद है । उसके नाम छन्द (छन्दांसि), अथर्वाङ्गिरा (अथर्वाङ्गिरसः) और ब्रह्म वेद हैं । इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं । (१) अथर्ववेद, यह अथर्व [अथर्वन्] और वेद इन दो शब्दों का समुदाय है । थर्व धातु का अर्थ चलना और अथर्व का अर्थ निश्चल है, और वेद का अर्थ ज्ञान है, अर्थात् अथर्व, निश्चल, जो एक रस सर्वव्यापक परब्रह्म है, उस का ज्ञान अथर्ववेद है । (२) छन्द, इस का अर्थ आनन्ददायक है, अर्थात् उस में आनन्ददायक पदार्थों का वर्णन है । (३) अथर्वाङ्गिरा, इस पद का अर्थ यह है कि उस में अथर्व, निश्चल परब्रह्म बोधक अङ्गिरा अर्थात् ज्ञान के मन्त्र हैं । (४) ब्रह्मवेद अर्थात् जिस में ब्रह्म जगदीश्वर का ज्ञान है, और जिसके मनन और साक्षात् करने से ब्रह्माओं [ब्राह्मणों, ब्रह्म-ज्ञानियों] को मोक्ष सुख प्राप्त होता है ॥

(१) अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिपेधः-निरु० ११ । १२ ।
स्नामदिपद्यार्त्तपृशक्तिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति अ + थर्व चरणे-वनिप् ।
वकारलोपः । न थर्वति न चरतीति अथर्वा दृढस्वभावः । हलश्च । पा० ३ । ३ ।
१२१ । इति विद ज्ञाने-धञ् । इति वेदो ज्ञानम् । अथर्वणो दृढस्वभावस्य
परमेश्वरस्य वेदोऽथर्ववेदः ॥

(२) चन्द्रेरादेश्च छुः । उ० ४ । २१६ । इति चदि आह्लादे-असुन्, चस्य
छुः । चन्दयति आह्लादयतीति छन्दः ॥

(३) अङ्गतेरसिरिडगमश्च । उ० ४ । २२६ । इति अग्नि गतौ-अस्ति,
इरुट् आगमः । अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा परब्रह्म येनेति अङ्गिराः, वेदः ।
अथर्वणोऽङ्गिरसोऽथर्वाङ्गिरसः ॥

(४) वृहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति वृहि वृद्धौ-मनिन् । नकारस्य अकारः,
रत्वं च । वृंहति वर्धते सर्वेभ्योऽधिको भवतीति ब्रह्म परमेश्वरः । ब्रह्मणोवेदो
ब्रह्मवेदः ॥

अथर्ववेद संहिता भद्र आर० रोथ साहिव और डविल्यू० डी० विहटनी साहिव [Professors R. Roth and W. D. Whitney] ने जर्मनी देश के बर्लिन नगर में सन् १८५६ ईस्वी में छपवाई थी [See Page 10, Critical Notes on Atharva Samhita with the Commentary of Sayana-charya, Government Central Book Depot, Bombay; and page XIII, Griffith's English Translation of the Atharva Veda.] । अथर्ववेद संहितायें तो और भी छप गयी हैं । श्री सायणाचार्यकृत भाष्य केवल गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो बंबई की ओर से छपा है, वह भी असंपूर्ण [लगभग आधे वेद का भाष्य] और केवल संस्कृत में है और उसके चार वेष्टनों का मूल्य ४०) चालीस रुपया है। इस से बड़े २ धनी विद्वान् ही उसको देख सकते हैं, सामान्य पुरुषों को उसका मिलना और समझना कठिन है ।

४-अथर्ववेद विस्तार ॥

हमारे पास तीन अथर्व संहिता पुस्तक हैं, १-सायणभाष्य सहित बंबई गवर्नमेन्ट मुद्रापित, २-पं० सेवकलाल कृष्णदास मुद्रापित, और ३-अजमेर वैदिक यन्त्रालय मुद्रित । हम ने तीनों संहिताओं को मिलाकर अध्ययन किया है । विस्तार का विवरण अजमेर पुस्तक के अनुसार अन्य पुस्तकों से मिलान करके आगे लिखा है ।

अथर्ववेद (ये त्रिपुत्राः परियन्ति...) इस मन्त्र से लेकर (पुना-य्यं तदश्विना कृतं वा...)] इस मन्त्र तक है । इस में २० बीस काण्ड, ७३१ सात सौ इकतीस सूक्त, और ५,६७७ पाँच सहस्र नौ सौ सतहत्तर मन्त्र हैं । यह गणना आगे भूमिका के अन्त में चक्रों में वर्णित है ।

उक्त तीनों पुस्तकों को मिलाने से मन्त्र संख्या में यह भेद

(अ) पं० सेवकलाल के पुस्तक से मिलान ।

उक्तपुस्तक में मन्त्र	अन्य दो पुस्तकों में मन्त्र	भेद
	काण्ड = ।	
सूक्त १०। पर्याय १।	मन्त्र १ से ७=७ =	१३ — ६
" " ३।	म० १८ से २१=४ =	८ — ४
" " ४।	म० २२ से २५=४ =	१६ — १२
" " ५।	म० २६ से २८=४ =	१६ — १२
योग	१६	५३ — ३४

कारण ६ ।

सूक्त ६ । पर्याय ४ ।	म० ४० से ४४ = ५	=	१०	—५
” ” ५ ।	म० ४५ से ४८ = ४	=	१०	—६
योग	६		२०	—१६

कारण १६ ।

सूक्त ३८ ।	म० १ से २ = २	=	३	—१
” ४७ ।	म० १ से १० = १०	=	६	+१
” ५४ ।	म० ५, ६ = २	=	१ (म० ५)	+१
” ५५ ।	म० १ से ७ = ७	=	६	+१
” ५७ ।	म० १ से ६ = ६	=	५	+१
योग	२७		२४	+३

कारण २० ।

सूक्त ६६ ।	म० १-२३ = २३	=	२४	—१
सूक्त १३१ ।	म० १-२३ = २३	=	२०	+३
योग	४६		४४	+२
महा योग	१०१		१४१	—४०

सब मिलाकर पं० सेवकलाल कृष्णादास के पुस्तक में जो ४० मन्त्र घटते हैं, (हृदयात् तु परि क्लो मनो हलीक्षणात् पाश्वभिर्भ्याम् । यद्मं संतस्नाभ्यां ष्ठी ह् नो यन्त्रस्ते वि वृ हामसि ।) वस्तुतः यह एक मन्त्र अन्य दोनों पुस्तकों के का० २० सू० ६६ का म० १६ उस में नहीं है । अन्य ३६ मन्त्रों की न्यूनता केवल मन्त्र भागों के छोटे बड़े और आगे पीछे होने से है, इन का पूरा पाठ तौ मिलाकर अन्य पुस्तकों के तुल्य है । इस गणना से इस पुस्तक के समग्र मन्त्र ५,६७७-४० = ५,६३७ होते हैं ॥

(आ)-वैदिक यन्त्रालये के पुस्तक का सायणभाष्य सहित बंबई के पुस्तक से मिलान ।

सायणभाष्य वाले पुस्तक में इतना अधिक है कि कारण १६ के अन्त में ७२ मन्त्र का एक पर्याय है, जो १८ मन्त्र इस पुस्तक के कारण ११ सूक्त ४

पर्याय २ में मन्त्र १ से १८ तक, और अन्य पुस्तकों के कारण ११ सूक्त ३ पर्याय २ में मन्त्र ३२ से ४६ तक आसुके हैं, अर्थात् इन १४ मन्त्र के ७२ मन्त्र होकर सायण भाष्यमें एक पर्याय कारण १६ के अन्त में अलग है । अन्य पुस्तकों में [महृ त्रिकृप्तिथ के अंगरेजी अनुवाद सहित] यह पर्याय कारण १६ के अन्त में नहीं है, केवल कारण ११ में ही आया है, यही पाठ हमने रक्खा है । यह पुनर्लेख सायण पुस्तक में उस समय की पाठ प्रणाली के अनुसार दीखता है । इस बात को छोड़कर शेष मन्त्र संख्या अजमेर पुस्तक के तुल्य है ॥

५-सूक्त भेद ॥

सायण भाष्य में ७५६ [सात सौ उनसठ] और अजमेर वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में ७३१ सूक्त हैं । यह २८ सूक्तों की अधिकता का विवरण नीचे दिनाया जाता है । मन्त्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है ।

कारण जिनमें भेद है	सायण भाष्य में सूक्त	वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में सूक्त	सायणभाष्य में अधिक
७	१२३	११८	५
=	१५	१०	५
६	१५	१०	५
११	१२	१०	२
१२	११	५	६
१३	६	४	५
६ कांड	१८५	१५७	२८

६-अनुवाक ।

सूक्त और मन्त्रों के अतिरिक्त, कारणों का विभाग अनुवाक और सूक्तों में है । परन्तु कारणों में सूक्तों की गणना लगातार चली गयी है, इस से अनुवाकों की गणना का यहां नहीं दिखाना, पुस्तक के भीतर अपने स्थान पर दिखाया है ।

७-सायण भाष्य असंपूर्ण है ।

अथर्ववेदासंहिता, सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गयर्मैन्ट सेन्ट्रल युकांडिपो, बंगई चङ्गे खोज से छपी दीखती है, इसके अतिरिक्त और कोई भाष्य

प्रतीत नहीं होता । इस पुस्तक में केवल दस काण्डों से कुछ अधिक का भाष्य इस प्रकार है-काण्ड १, २, ३, ४, ६, ७, ८ [सूक्त ६ तक] ११, १७, १८, १९, २० [सूक्त ३७ तक] । [इतना भाष्य नहीं है-काण्ड ५, ८ (सूक्त ७-७५), ९, १०, १२, १३, १४, १५, १६, २० (सूक्त ३८- १४३)] ॥

८-अथर्ववेद पुस्तकें और अपना भाष्य ।

१-अथर्ववेद संहिता श्री सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट बुक डिपो, बंबई, चार वेष्टन । वेष्टन १ तथा २ सन् १८९५, वेष्टन ३ तथा ४ सन् १८९८ ईसवी ।

२-अथर्ववेद संहिता मूल, परिडित सेवकलाल कृष्णदास संशोधित-बंबई, सन् १८९३ [पत्थर का छापा] ।

३-अथर्ववेद संहिता, मूल, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् १९५८ विक्रमीय [सन् १९०१ ईस्वी] ।

४-अथर्ववेद संहिता, अंग्रेजी अनुवाद, भट्ट त्रिफुलिथ साहिव कृत दो वेष्टन, वेष्टन १ सन् १८९५, वेष्टन २ सन् १८९६ ई० ।

इस भाष्य के बनाने में यह सब पुस्तकें और श्री सायणाचार्य कृत ऋग्वेद और सामवेद भाष्य, श्री महीधर कृत शुक्ल यजुर्वेद भाष्य, श्री महयानन्द खरखती कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, परिडित तुलसी राम कृत सामवेद भाष्य, यास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त, और पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण, सर राजा राधाकान्त देव बहादुर कृत शब्द कल्प द्रुम कोष, और अन्य ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी हुये हैं, इस लिये उन ग्रन्थ कर्त्ता महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है ।

हमारे भाष्य में संहिता पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तक का है, पदपाठ इस पुस्तक और सायण भाष्य के अनुसार है । पाठान्तर टिप्पणियों में दिखाया है । स्पष्टता और संक्षेप के ध्यान से भाष्य का क्रम यह रक्खा है ।

१-देवता, छन्द, उपदेश ।

२-मूलमन्त्र-खरखहित ।

३-पदपाठ-खरखहित ।

४-सान्वय भाषार्थ ।

५-भावार्थ ।

६-आवश्यक टिप्पणी, संहिता पाठान्तर, अनुरूप विषय और अन्य वेदों में मन्त्रका पता आदि चिबरण ।

७-शब्दार्थ व्याकरणादि प्रक्रिया-व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, पर्यायश्रुति । सहज पते के लिये काण्ड काण्ड के विषय आदि, और अथर्ववेद के अन्य वेदों में मन्त्रों की सूची भी दिया है ।

६-ऋषि, देवता, छन्द ।

ऋषि वह महात्मा कहलाते हैं जिन्होंने वेदों के सूक्ष्म अर्थों को प्रकाशित किया है [निरु० १ । २० । तथा २ । ११], देवता उसको कहते हैं जिसके गुणों का वर्णन मन्त्र में प्रधानता से हो [निरु० ७ । १], मितान्तर वाक्य छन्द कहाते हैं । जिस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में सूक्त इत्यदि के साथ ऋषि, देवता और छन्द लिखे हैं, उस प्रकार अथर्ववेद संहिताओं में नहीं हैं । हमने इस भाष्य में सूक्तों के शीर्षक पर देवता, छन्द और प्रकरण दिये हैं । ऋषियों का निश्चय नहीं हो सका ।

१०-निवेदन ।

निःसन्देह अथ वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें । भारतीय और अन्य देशीय विद्वान् भी वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं । मेरा भी संकल्प है कि अथर्ववेद का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्प-मूल्य भाष्य एक एक पूरे काण्ड के पुस्तक रूप में प्रस्तुत करूँ, जिससे सब लोग स्वाध्याय [वेद के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें । और यदि वैदिक जिज्ञानु वेदों के सत्यार्थ और तत्त्वज्ञान प्रप्तिमें कुछ भी सहायता पावेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग
(अलाहाबाद) ।
भाद्र शुक्ल जन्माष्टमी १९६६ वि०,
५ सितम्बर १९१२ ।

सोमकरशादास त्रिवेदी ।
जन्म, कार्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५. विक्रमीय,
(ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी.)
जन्मस्थान, ग्राम शाहपुर मडराक,
ज़िला अलीगढ़ ॥

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
कारण्ड १		२९	६	२०	५	१०	१३	५	७	३५	७
१	४	३०	४	२१	५	११	१४	६	८	३६	१०
२	४	३१	४	२२	५	१२	१५	७	७	३७	१२
३	७	३२	४	२३	५	१३	१६	८	७	३८	७
४	४	३३	४	२४	८	१४	१७	९	१०	३९	१०
५	४	३४	५	२५	५	१५	१८	१०	७	४०	८
६	४	३५	४	२६	५	१६	१९	११	१२		
७	७	३५	१५३	२७	७	१७	२०	१२	७	४०	३२४
८	४	कारण्ड २		२८	५	१८	२१	१३	७	कारण्ड ५	
९	४	१	५	२९	७	१९	२२	१४	८	१	८
१०	४	२	५	३०	५	२०	२३	१५	१६	२	८
११	८	३	८	३१	५	२१	२४	१६	८	३	११
१२	४	४	८	३२	८	२२	२५	१७	८	४	१०
१३	४	५	८	३३	७	२३	२६	१८	८	५	८
१४	४	६	७	३४	५	२४	२७	१९	८	६	१४
१५	४	७	५	३५	५	२५	२८	२०	८	७	१०
१६	४	८	५	३६	८	२६	२९	२१	७	८	८
१७	४	९	५	३७	८	२७	३०	२२	७	९	८
१८	४	१०	५	३८	२०७	२८	३१	२३	७	१०	८
१९	४	कारण्ड ३		३९	८	२९	३२	२४	७	११	८
२०	४	१	८	४०	११	३०	३३	२५	७	१२	११
२१	४	२	८	४१	११	३१	३४	२६	७	१३	११
२२	४	३	८	४२	११	३२	३५	२७	७	१४	११
२३	४	४	७	४३	७	३३	३६	२८	७	१५	११
२४	४	५	७	कारण्ड ४		४४	३७	२९	७	१६	११
२५	४	६	७	१	७	४५	३८	३०	७	१७	११
२६	४	७	७	२	७	४६	३९	३१	७	१८	१५
२७	४	८	७	३	७	४७	४०	३२	७	१९	१५
२८	४	९	७	४	७	४८	४१	३३	७	२०	१२

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२१	१२	१६	४	४६	३	७६	४	१०६	३	१३६	३
२२	१४	१७	४	४७	३	७७	३	१०७	४	१३७	३
२३	१३	१८	३	४८	३	७८	३	१०८	५	१३८	५
२४	१७	१९	३	४९	३	७९	३	१०९	३	१३९	५
२५	१३	२०	३	५०	३	८०	३	११०	३	१४०	३
२६	१२	२१	३	५१	३	८१	३	१११	४	१४१	३
२७	१२	२२	३	५२	३	८२	३	११२	३	१४२	३
२८	१४	२३	३	५३	३	८३	४	११३	३	१४३	४५४
२९	१५	२४	३	५४	३	८४	४	११४	३	कारण्ड ७	
३०	१७	२५	३	५५	३	८५	३	११५	३	१	२
३१	१२	२६	३	५६	३	८६	३	११६	३	२	१
३२	३७६	२७	३	५७	३	८७	३	११७	३	३	१
कारण्ड ६		२८	३	५८	३	८८	३	११८	३	४	१
१	३	२९	३	५९	३	८९	३	११९	४	५	५
२	३	३०	३	६०	३	९०	३	१२०	३	६	४
३	३	३१	३	६१	३	९१	३	१२१	४	७	१
४	३	३२	३	६२	३	९२	३	१२२	५	८	१
५	३	३३	५	६३	४	९३	३	१२३	५	९	४
६	३	३४	५	६४	३	९४	३	१२४	३	१०	१
७	३	३५	३	६५	३	९५	३	१२५	३	११	१
८	३	३६	३	६६	३	९६	३	१२६	३	१२	४
९	३	३७	३	६७	३	९७	३	१२७	३	१३	२
१०	३	३८	४	६८	३	९८	३	१२८	४	१४	४
११	३	३९	३	६९	३	९९	३	१२९	३	१५	१
१२	३	४०	३	७०	३	१००	३	१३०	४	१६	१
१३	३	४१	३	७१	३	१०१	३	१३१	३	१७	४
१४	३	४२	३	७२	३	१०२	३	१३२	५	१८	२
१५	३	४३	३	७३	३	१०३	३	१३३	५	१९	१
१६	३	४४	३	७४	३	१०४	३	१३४	३	२०	६
१७	३	४५	३	७५	३	१०५	३	१३५	३	२१	१

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२२	२	५२	२	८२	६	११६	२	(२)	१३	६	२३
२३	१	५३	७	८३	४	११७	१	(३)	८	७	२७
२४	१	५४	२	८४	३	११८	१	(४)	१०	८	२४
२५	२	५५	१	८५	१	११८	२=६	(५)	१०	८	२६
२६	८	५६	८	८६	१	कारण्ड =		(६)	१४	१०	२७
२७	१	५७	२	८७	१			७	२६	१०	२७
२८	१	५८	२	८८	१	१	२१	=	२२		
२९	२	५९	१	८९	४	२	२८	८	२२	१०	३१३
३०	१	६०	७	९०	३	३	२६	१०	२८	कारण्ड १२	
३१	१	६१	२	९१	१	४	२५	१०	३१३	१	६३
३२	१	६२	१	९२	१	५	२२	कारण्ड १०		२	५५
३३	१	६३	१	९३	१	६	२६	१	२२	३	६०
३४	१	६४	२	९४	१	७	२८	२	२३	४	५३
३५	३	६५	३	९५	३	८	२८	३	२५	५	७३
३६	१	६६	१	९६	१	९	२८	४	२६	५	३०४
३७	१	६७	१	९७	८	१०-१	२३	५	२६	कारण्ड १३	
३८	५	६८	३	९८	२	(२)	१०	६	५०	१	६०
३९	१	६९	१	९९	१	(३)	=	७	४४	२	४६
४०	२	७०	५	१००	१	(४)	१६	८	४४	३	२६
४१	२	७१	२	१०१	१	(५)	१६	९	४४	४	५६
४२	२	७२	३	१०२	१	(६)	४	१०	३४	५	५६
४३	१	७३	३	१०३	१	१०	२८३	१०	३५०	६	१८८
४४	१	७४	४	१०४	१	कारण्ड ८		कारण्ड ११		कारण्ड १४	
४५	२	७५	२	१०६	१	१	२७	१	३७	१	६४
४६	३	७६	२	१०७	१	२	२५	२	३१	२	७५
४७	२	७७	३	१०८	७	३	३१	३	५६		
४८	२	७८	३	१०९	३	४	२४	४	२६		
४९	२	७९	२	११०	३	५	३८	५	२६	२	१३६
५०	८	८०	४	११२	२	६	२७	६	२६		
५१	१	८१	६	११४	४	७	१७	७	२६		
		८२	६	११५	४	६(१)	१७	८	२६		

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
कारण्ड १५		कारण्ड १७		१६	११	४६	१०	३	३	३३	३.
१	८	१	३०	२०	४	५०	७	४	३	३४	१०.
२	२८	१	३०	२१	१	५१	२	५	७	३५	१६.
३	११	कारण्ड १८		२२	२१	५२	५	६	८	३६	११
४	१८	१	६१	२३	३०	५३	१०	७	४	३७	११
५	१६	२	६०	२४	८	५४	५	८	३	३८	६
६	२६	३	७३	२५	१	५५	६	८	४	३९	५
७	५	४	८८	२६	४	५६	६	१०	२	४०	३
८	३	४	८८	२७	१५	५७	५	११	११	४१	३
९	३	४	२८३	२८	१०	५८	६	१२	७	४२	३
१०	११	कारण्ड १९		२९	८	५९	३	१३	४	४३	३
११	११	१	३	३०	५	६०	२	१४	४	४४	३
१२	११	२	५	३१	१४	६१	१	१५	६	४५	३
१३	१४	३	४	३२	१०	६२	१	१६	१२	४६	३
१४	२४	३	४	३३	५	६३	१	१७	१२	४७	२१
१५	८	४	४	३४	१०	६४	४	१८	६	४८	६
१६	७	५	१	३५	५	६५	१	१९	७	४९	७
१७	१०	६	१६	३६	६	६६	१	२०	७	५०	२
१८	५	७	५	३७	४	६७	८	२१	११	५१	४
१९	२२०	८	७	३८	३	६८	१	२२	६	५२	३
२०	२२०	८	१४	३९	१०	६९	४	२३	८	५३	३
कारण्ड १६		१०	१०	४०	४	७०	१	२४	८	५४	३
१	१३	११	६	४१	१	७१	१	२५	७	५५	३
२	६	१२	१	४२	४	७२	१	२६	६	५६	६
३	६	१३	११	४३	८	७३	१	२७	६	५७	१६
४	७	१४	१	४४	१०	७४	४५३	२८	४	५८	४
५	१०	१५	१	४५	१०	कारण्ड २०		२९	५	५९	४
६	११	१६	६	४६	७	१	३	३०	५	६०	६
७	१३	१७	१०	४७	८	२	४	३१	५	६१	६
८	४	१८	१०	४८	६	३	४	३२	३	६२	१०

कारण्ड		कारण्ड --		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
६३	६	७७	५	६१	१२	१०५	५	१२३	२	१४१	५
६४	६	७८	३	६२	२१	१०६	३	१२४	६	१४२	६
६५	३	७९	२	६३	५	१०७	१५	१२५	७	१४३	६
६६	३	८०	२	६४	११	१०८	३	१२६	२३		
६७	७	८१	२	६५	४	११०	३	१२७	१४		
६८	१२	८२	२	६६	२४	१११	३	१२८	१६		
६९	१२	८३	२	६७	३	११२	३	१३०	२०		
७०	२०	८४	३	६८	२	११३	२	१३१	२०		
७१	१६	८५	४	६९	२	११४	२	१३२	१६		
७२	३	८६	१	१००	३	११५	३	१३३	६		
७३	६	८७	७	१०१	३	११६	२	१३४	६		
७४	७	८८	६	१०२	३	११७	३	१३५	१३		
७५	३	८९	११	१०३	३	११८	२	१३६	१४		
७६	५	९०	३	१०४	४	१२०	२	१३७	३		
						१२१	२	१३८	५	१४३	६५८
						१२२	३	१४०	५		

योगचक्र ।

कारण्ड	सूक्त	मन्त्र	कारण्ड	सूक्त	मन्त्र	कारण्ड	सूक्त	मन्त्र	कारण्ड	सूक्त	मन्त्र
१	३५	१५३	६	१४२	४५४	११	१०	३१३	१६	६	१०३
२	३६	२०७	७	११८	२८६	१२	५	३०४	१७	१	३०
३	३१	२३०	८	१०	२६३	१३	४	१८८	१८	४	२८३
४	४०	३२४	९	१०	३१३	१४	२	१३६	१९	७२	४५३
५	३१	३७६	१०	१०	३५०	१५	१८	२२०	२०	१४३	६५८
५	१७३	१२६०	५	२६०	१६६६	५	३६	११६४	५	२२६	१८२७

महायोग, कारण्ड २०, सूक्त ७३१ मन्त्र ५,६७७ ॥



सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश.	छन्द
१	ये त्रिषप्ता परियन्ति	वाचस्पति	वृद्धि वृद्धि	अनुष्टुप्
२	विज्ञा शरस्य पितरं	इन्द्र	तथा	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३	विज्ञा शरस्य पितरं	पर्जन्य आदि	शान्ति करण	पङ्क्ति. अनुष्टुप्
४	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	आपः	परापकार	गायत्री, पङ्क्ति ।
५	आपो हिष्ठा मयोभुवस्	तथा	बल प्राप्ति	गायत्री ।
६	शं नो देवी रभीष्टय	"	आराग्यता	गायत्री, पङ्क्ति ।
७	स्तुवानमग्न आ वह	इन्द्राग्नी	सेनापति	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
८	इदं हविर्यातुधानान्	अग्नि, सोम	तथा	" "
९	अस्मिन् वसु वसवो	विश्वे देवा	सर्वसम्मत्ति	त्रिष्टुप्
१०	अयं देवानामसुरो	वरुण	वरुण वर्णन	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
११	वपद् ते पूषन्नस्मिन्	पूषा	सृष्टि विद्या	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
१२	जरायुजः प्रथम उस्त्रियः	वृषा	ईश्वर आदि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
१३	नमस्ते अस्तु विद्युते	प्रजापति	आत्मरक्षा	अनुष्टुप्, जगती
१४	भगमस्या वर्च आदिप्य	वधूवर	विवाह	अनुष्टुप् ।
१५	सं संस्रवन्तु सिन्धवः	प्रजापति	पेश्वर्यप्राप्ति	अनुष्टुप्, आदि
१६	योऽमावास्यां रात्रि	अग्निआदि	विघ्ननाश	अनुष्टुप् ।
१७	अमूर्या यन्ति योपितो	हिरा	नाडी छेदन	अनुष्टुप्, गायत्री
१८	निर्लदम्यं ललाम्यं	सविता	राजधर्म	अनुष्टुप्, जगती ।
१९	मा नो विदन् विव्याधि	इन्द्र	जय और न्याय	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२०	अदारसृद् भवतु देव	सोम, मरुत्	शत्रुओंसे रक्षा	जगती, अनुष्टुप् ।
२१	स्वस्तिदा विशां पतिर्	इन्द्र	राजनीति	अनुष्टुप्
२२	अनु सूर्यमुदयतां	सूर्य	रोग का नाश	"
२३	नक्तं जातास्योपधे	ओषधि	रोग नाश	"
२४	सुपर्णो जातः प्रथमस्	तथा	तथा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२५	यदग्निरापो अदहत्	अग्नि	रोगशान्ति	त्रिष्टुप् ।
२६	आरे ऽसावस्मदस्तु	इन्द्र	युद्ध प्रकरण	गायत्री ।
२७	अमूः पारे पृदाक्वस्	प्रजापति	"	पङ्क्ति, अनुष्टुप् ।
२८	उप प्रागाद्देवो अग्नी	अग्नि	"	अनुष्टुप् ।
२९	अभी वर्तेन मणिना	ब्रह्मणस्पति	राजतिलक	"
३०	विश्वे देवो वसवो	विश्वे देवा	"	त्रिष्टुप् ।
३१	आशानामाशापालेभ्य	प्रजापति	पुरुषार्थ	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
३२	इदं जनासो विदथ	ब्रह्म	ब्रह्मविचार	अनुष्टुप् ।

सूक्त	सूक्तके प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३३	हिरण्यवर्णाः शुचयः	आपः	तन्मात्रायै	त्रिष्टुप् ।
३४	इयं वीरुन्मधुजाता	वीरुध्=लता	विद्याप्राप्ति	अनुष्टुप्
३५	यदावभन् दाक्षायणा	हिरण्य	सुवर्ण आदि	त्रिष्टुप् ।

२—अथर्ववेद, काण्ड १ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से।

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद सूक्त.मंत्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मंत्र	यजुर्वेद, अध्याय, मंत्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	अम्बयो यन्तध्वभिर्	४।१	१।२३।१६		
२	अमूर्या उप सूर्ये	४।२	१।२३।१७		
३	अपो देवीरूप ह्वये	४।३	१।२३।१८		
४	अण्स्वन्तरमृत	४।४	१।२३।१९	६।६	
५	आपो हि ष्ठा मयो	५।१	१०।६।१	११।५०-५२	
६	यो वः शिवतमो	५।२	१०।६।२	तथा	
७	तस्मा अरं गमाम वो	५।३	१०।६।३	३६।१४-१६	उ०६।२।१०
८	ईशाना वार्याणां	५।४	१०।६।५		
९	शं नो देवीरभिष्टय	६।१	१।२३।२०, २१	३६।१२	पू०१।३।१३
१०	अण्स्तु मे सोमो	६।२	१०।६।४, ६		
११	आपः पृणीत भूषजं	६।३	१०।६।७		
१२	यो नः स्वो यो अरणः	१६।३.४	६।७५।१६		उ०६।३।८
१३	वि महच्छर्म यच्छु	२०।३	१०।१५२।५		
१४	शास इत्या महां असि	२०।४	१०।१५२।१		
१५	स्वस्तिदा विशां पति	२१।१	१०।१५२।२		
१६	वि न इन्द्र मृधो जहि	२१।२	१०।१५२।३		
१७	वि रक्षो वि मृधो जहि	२१।३	१०।१५२।४		उ०६।३।७
१८	अपेन्द्र द्विषतो मनो	२१।४	१०।१५२।५		
१९	सुकेषु ते हरिमाणं	२२।४	१।५०।१२		
२०	अभी वर्तेन मणिना	२६।१	१०।१७४।१		
२१	अभिवृत्य सपत्नानभि	२६।२	१०।१७४।२		
२२	अभि त्वा देवः सविता	२६।३	१०।१७४।३		
२३	उदसौसूर्यो अगादुदिदं	२६।५	१०।१५६।१		
२४	सपत्नक्षयणो वृषा	२६।६	१०।१७४।५		
२५	यदावभन् दाक्षायणा	३५।१	—	३४।५२	
२६	नैनं रक्षांसि न पिशाचाः	२५।२	—	३४।५१	

ओ३म् ।

अथर्ववेदः ॥

प्रथमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १-४ । वाचस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः, ८x४ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्धयुपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

ये त्रिपुप्ताः परिच्यन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः ।
वाचस्पतिर्वला तेषां तन्वा अद्य दधातु मे ॥ १ ॥
ये । त्रि-सप्ताः । परि-च्यन्ति । विश्वा । रूपाणि । विभ्रतः ।
वाचः । पतिः । बला । तेषाम् । तन्वाः । अद्य । दधातु । मे ॥ १ ॥

सान्वय भाषार्थ— (ये) जो पदार्थ (त्रि-सप्ताः) १-सत्र के संतारक, रक्षक परमेश्वर के सम्यन्ध में, यद्वा, २- रक्षणीय जगत् [यद्वा, —तीन से सम्यन्ध्री ३-तीनों काल. भूत. वर्तमान, और भविष्यत् । ४-तीनों लोक, स्वर्ग, मध्य, और भूलोक । ५-तीनों गुण, सत्त्व, रज और तम । ६-ईश्वर, जीव,

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—ये । पदार्थाः । त्रि-सप्ताः । तरतेर्दिः । ३०५ । ६६ । इति वृ तरये—दि । तरति तारयति तार्यते वा त्रिः ।

और प्रकृति । यद्वा, तीन और सात = दस । ७-चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की और एक नीचे की दिशा । ८-पांच ज्ञान इन्द्रिय, अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, और पांच कर्म इन्द्रिय, अर्थात् वाक्, हाथ, पांव, पायु, उपस्थ । यद्वा, तीन गुणित सात=इक्कीस । ६-महाभूत ५ + प्राण ५ + ज्ञान इन्द्रिय ५ + कर्म इन्द्रिय ५ + अन्तःकरण १ इत्यादि] के सम्बन्धमें [वर्तमान] होकर, (विश्वा=विश्वानि) सब (रूपाणि) वस्तुओं को (विभ्रतः) धारण करते हुये (परि) सब और (यन्ति) व्याप्त हैं । (वाचस्पतिः) वेदरूप वाणी का स्वामी परमेश्वर (तेषाम्) उन के (तन्वः) शरीरके (बला=बलानि बल्लोको (अद्य) आज (मे) मेरे लिये (दध्नातु) दान करे ॥१॥

भावार्थ—आशय यह है कि तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सब का तत्त्वज्ञान (वाचस्पतिः) वेद वाणी के स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें और उस अन्त-

परमेश्वरो जगद्वा । संख्यावाची वा । सप्यशभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति षप समवाये—कनिन्, तुट् च । सपति समवैतीति सप्तन् संख्याभेदो वा । यद्वा, षप समवाये—क्त । त्रिणा तारकेण परमेश्वरेण तारणीयेण जगता वा सह सम्बद्धाः पदार्थाः । यद्वा । त्रयश्च सप्त चेति त्रिपत्ता दश देवाः । यद्वा । त्रिगुणिताः सप्त एकविंशतिसंख्याकाः पदार्थाः । डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । वार्तिकम्, पा० ५ । ४ । ७३ । इति समासे डच् । विशेषव्याख्या भाषायां क्रियते । परि-यन्ति । इण् गतौ—लट् । परितः सर्वतो गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति । विश्वा । अशु प्रुपिलटिकणिलटिविशिभ्यः कन् । उ० १ । १५१ । इति विश प्रवेशे—कन् । शेषञ्चन्दसि बहुलम् । पा० ६ । १ । ७० । इति शेल्लोपः । विश्वानि । सर्वाणि । रूपाणि । खण्ड शिल्प शण्ड वाष्परूपपर्यतल्पाः । उ० ३ । २८ । इति रु ध्वनौ—प प्रत्ययो दीर्घश्च । रूयते कीर्त्यते तद् रूपम् । यद्वा, रूप रूपकरणे—अच् । सौंदर्याणि, चेतनाचेतनात्मकानि वस्तूनि । विभ्रतः । डु भृञ् धारणपोषणयोः—लटः शतृ । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । नाभ्यस्ताच्छतुः । पा० ७ । १ । ७८ । इति नुमः प्रतिषेधः । धारयन्तः । पोपयन्तः । वाचः । क्विच् वचिप्रच्छिञ्चि० । उ० २ । ५७ । इति वच् वाचि—क्विप् । दीर्घश्च । वाण्याः । वेदात्मिकायाः । पतिः । पातेर्डतिः । उ० ४ । ५७ । इति पा रक्षणे—डति । रक्षकः । सर्वगुरुः परमेश्वरः । वाचस्पतिः—पण्ड्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् । बला । बल हिंसे जीवने

र्यामी पर पूर्ण विश्वास करके पराक्रमी और परोपकारी होकर सदा आनन्द भोगें ॥१॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—योगदर्शन, पाद १ सूत्र २६ ।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

वह ईश्वर सब पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से विभक्त नहीं होता ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोऽपते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

पुनः । आ । इहि । वाचः । पते । देवेन । मनसा । सह ।

वसोः । पते । नि । रमय । मयि । एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ (वाचस्पते) हे वाणी के स्वामी परमेश्वर ! तू (पुनः) बारंबार (एहि) आ । (वसोः पते) हे श्रेष्ठ गुणके रक्षक ! (देवेन) प्रकाशमय (मनसा सह) मन के साथ (नि) निरन्तर (रमय) [मुझे] रमण करा, (मयि) मुझ में वर्तमान (श्रुतम्) वेदविज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक (वाचस्पति) परम गुरु परमेश्वर का ध्यान निरन्तर करता रहे और पूरे स्मरण के साथ वेद विज्ञान से अपने हृदय को शुद्ध करके सदा सुख भोगे ॥

च—पचाद्यच् । पूर्ववत् शैलोपः । वलानि । तेषास् । त्रिसप्तानां पदार्थानाम् तन्वः । भृमृशीङ् । उ० १ । ७ । इति तनु विस्तृतौ— उ प्रत्ययः । ततः स्त्रियाम् ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति विभक्तोः स्वरितः, उदात्तस्य ऊकारस्य यणि परिवर्त्तिते । तन्वाः, शरीरस्य । अद्य । सद्यः परत्परार्थेषमः० । पा० ५ । ३ । २२ । इति इदम् शब्दस्य अशभावः, द्यस् प्रत्ययो दिनेऽर्थे च निपात्यते । अस्मिन् दिने, अध्ययनकाले । दधातु । डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च— लोट् । जुहोत्यादिः । शपः श्लुः । धारयतु, स्थापयतु, ददातु । सै । मह्यम्, मदर्थम् ।

२—पुनः । पनाग्यते स्तूयत इति । पन स्तुतौ—अर् अकारस्य उत्त्वं पृषोदरादित्वात् । अवधारणेन । वारंवारम् । आ+इहि । आ+इण् मत्तौ । लोट् । आगच्छ । वाचः+पते । मं० १ । हे वाण्याः स्वामिन्, हे ब्रह्मन् । वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा— नि० १० । १७ । देवेन । नन्दिग्रहि-

टिप्पणी—भगवान् यास्कमुनि ने (वाचस्पति) का अर्थ “वाचःपाता वा पालयिता वा”—अर्थात् घाणी की रक्षा करने वाला वा करने वाला किया है—
निरु०१० । १७ । और निरु०१० । १८ । में उदाहरण रूप से इस मन्त्र का पाठ इस प्रकार है ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सुह
वसोऽपते निरामय मय्येव तन्वं १ मम ॥ १ ॥

हे घाणी के स्वामी तू बारम्बार आ । हे धन वा अन्न के रक्षक ! प्रकाशमय मन के साथ मुझ में ही मेरे शरीर को नियम पूर्वक रमण करा ॥

मन की उत्तम शक्तियों के बढ़ाने के लिये (यज्जाग्रतो दुरमुदेति दैवम्) इत्यादि यजुर्वेद अ० ३४ म० १-६ भी हृदयस्थ करने चाहिये ।

इहैवाभि वितनूभे आर्त्ता इव जयर्था ।

वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

इह । इव । अभि । वि । तनु । उभे इति । आर्त्ता । इवेत्यार्त्ता । इव । जयर्था ।
वाचः । पतिः । नि । यच्छतु । मयि । इव । श्रुतम् । मयि । श्रुतम् ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—(इह) इस के ऊपर (एव) ही (अभि) चारों ओर से (वितनु)

पचादिभ्योऽल्युण्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषा व्यघ-
हारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्रकान्तिगतिषु — पचाद्यच् । दिव्येन , द्योतकेन ,
प्रकाशमयेन । मनसा । सर्घधातुम्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति मन ज्ञाने
असुन् । चित्तेन , अन्तःकरणेन । वसोः । श्चस्त् स्निहीति । उ० १ । १० । इति
घस निवासे आच्छादने—उ प्रत्ययः । श्वसो वसीयश्श्रेयसः । पा० ५ । ४ । २० ।
अत्र वसु शब्दः प्रशस्तवाची । श्रेष्ठगुणस्य । अथवा छन्दसि वसुनः धनस्य ।
पते । मं० १ । पालयितः , स्वामिन् । वसोऽपते । पृष्ट्याः पतिपुत्र० । पा०
८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् । आदेशप्रत्ययोः । पा० ८ । ३ । ५६ । इति
पत्वश्च । नि । नियमेन , नितराम् । रमय । हेतुमतिश्च । पा० ३ । १ । २६ । इति
रभु क्रीडायाम्—णिच्—लोट् । णिच् वृद्धिप्राप्तौ । मितं ह्रस्वः । पा० ६ । ४ ।
६२ । इति मित्वात् उपधाह्रस्वः । क्रीडय , आनन्दय माम् । मयि । ममात्मनि
वर्त्तमानम् । श्रुतम् । श्रूयतेस्म यदिति । श्रुश्रुतौ—क्त । अधीतम् , वेदशास्त्रम् ॥

३—इह । अत्र , अस्योपरि , अस्मिन् ब्रह्मचारिणि , ममोपरि । अभि ।

तू अच्छे प्रकार फैल, (इव) जैसे (उभे) दोनों (आर्त्नी) धनुष कोटियें (ज्यया) जय के साधन, चिह्नाके साथ [तन जाती हैं]। (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (नियच्छतु) नियम में रखे, (मयि) मुझ में वर्तमान (श्रुतम्) वेद विज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥३॥

भावार्थ—जैसे संग्राम में शूर वीर धनुष् की दोनों कोटियों को डोरी में बद्ध कर वाण से रक्षा करता है उसी प्रकार आदिगुरु परमेश्वर अपने कृपा-युक्त दोनों हाथों को [अर्थात् अज्ञान की हानि और विज्ञान की वृद्धि को] इस मुझ ब्रह्मचारी पर फैला कर रक्षा करे और नियम पालन में दृढ़ करके परम-सुखदायक ब्रह्मविद्या का दान करे और विज्ञान का पूरा स्मरण मुझमें रहे ॥३॥ भगवान् यास्क के अनुसार—निरुक्त ६। १७ (ज्या) शब्द का अर्थ जीतने वाली यद्वा आयु घटाने वाली अथवा वाणों को छोड़ने वाली वस्तु है ॥

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्हूयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ॥ ४ ॥
उप-हूतः । वाचः । पतिः । उप । अस्मान् । वाचः । पतिः । हु यताम्
सम् । श्रुतेन । गमेमहि । मा । श्रुतेन । वि । राधिषि ॥ ४ ॥

भावार्थ—(वाचस्पतिः) वाणीका स्वामी, परमेश्वर (उपहूतः) समीप बुलाया गया है, (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (अस्मान्) हम को उपहूय-

श्रुतः सर्वतः । वितनु । तनु विस्तारे-लोद्, अकर्मकः । वितनुहि, वितन्यस्व
विस्तृतो भव । उभे । ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् । पा० १ । १ । ११ । इति प्रगृ-
ह्यम् । द्वये । आर्त्नी । आङ् + ऋ गतौ-क्तिन्, नकारोपसर्जनम् । पूर्ववत् प्रगृह्यम्
आर्त्नी, धनुष्कोटी, अटन्यौ धनुः प्रान्ते । आर्त्नी अर्तन्यौ वारण्यौ वारिषण्यौ वा
निरु० ६ । ३६ ॥ ज्यया । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीपूनिति वा
निरु० ६ । १७ । अघ्न्याद्यश्च । उ० ४ । ११२ । इति जि जये, वा, ज्या वयोहानौ
णिच्—त्रा, जु रंहसि गतौ, णिच्.—यक् । निपातनात् साधुः । यद्वा । अन्ये-
ष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति ज्यु गत्याम् यद्वा, ज्या वयोहानौ, णिच्-
द । टाप् । धनुर्गुणेन, मीर्वा । वाचः+पतिः म०१ ॥ वाण्याः स्वामी । नि-
यच्छतु । नियमतु, नियमे रक्षतु । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ।

४—उप+हूतः । उप+ह्वेञ् आह्वाने—क । समीपं कृतावाहनः, कृत-

ताम्) समीप बुलावे । (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (संगमेमहि) हम मिले रहे ।
(श्रुतेन) वेद विज्ञान से (मा विराधिषि) मैं अलग न हो जाऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग परमेश्वर का आवाहन करके निरन्तर अभ्यास और सत्कार से वेदाध्ययन करें जिस से प्रीति पूर्वक आचार्य की पढ़ायी ब्रह्म-विद्या उन के हृदय में स्थिर होकर यथावत् उपयोगी होवे ॥

इस सूक्त का यह भी तात्पर्य है कि जिज्ञासु ब्रह्मचारी अपने शिक्षक आचा-र्यों का सदा आदर सत्कार करके यत्न पूर्वक विद्याभ्यास करें जिससे वह शास्त्र उन के हृदय में दृढ़भूमि होवे ॥ ४ ॥



सूक्तम् २ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ । अनुष्टुप्, ८×४ । ३
त्रिपदा त्रिष्टुप्, ११×३ अक्षराणि ॥

बुद्धिबुद्ध्युपदेशः— बुद्धि की वृद्धिके लिये उपदेश ।

विद्वा शूरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।

विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्षसम् ॥ १ ॥

विद्वा शूरस्य । पितरं । पर्जन्यं । भूरि-धायसम् ।

विद्मो इति । सु । अस्य । मातरं । पृथिवीं । भूरि-वर्षसम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शूरस्य) शत्रु नाशक [वाणधारी] शूर पुरुष के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (भूरिधायसम्) बहुत प्रकार

स्मरणः । वाचः+पतिः । म० १ ॥ वाण्याः पालयिता, परमेश्वरः । उप । समीपे । आदरेण । ह्यतास् । ह्य्—लोट् । आह्वयतु स्मरतु । श्रुतेन । मं० २ । अधीतेन, शास्त्रविज्ञानेन । सस्+गमेसहि । सम् पूर्वकात् गम्ल् सं-गतौ-आशीर्लिङ् । समो गम्यच्छिप्रच्छि० । पा० १ । ३ । २६ । इति आत्मनेपदम् व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । २२ इति समः क्रियापदेन संबन्धः । संगच्छेमहि, संगता भूयास्म । मा+वि+राधिषि । राध संसिद्धौ । विराध वियोगे-लुङि, आत्मनेपदमेकवचनम् इडागमश्च । माङि लुङ् । पा० ३ । ३ । १७५ । इति लुङ् । न माङ् योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति माङि अटोऽभावः । अहं वियुक्तोमा भूवम् ।

१—विद्वा । विद ज्ञाने-लट् । अदादित्वात् शपो लुक् । द्व्यचोऽतस्तित्ठः ।

से पोषण करनेवाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं । (अस्य) इस शूर की माननीया माता, (पृथिवीम्) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवीरूप (भूरिवर्षसम्) अनेक वस्तुओं से युक्त [ईश्वर] को (सु) भली भांति (विद्म उ) हम जानते ही हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ, जल की वर्षा करके और पृथ्वी, अन्न आदि उत्पन्न करके प्राणियों का बड़ा उपकार करती है, वैसे ही वह जगदीश्वर परब्रह्म सब मेघ, पृथिवी आदि लोक लोकान्तरों का धारण और पोषण नियम पूर्वक करता है । जितेन्द्रिय शूरवीर विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को अपने पिता के समान रक्षक, और माता के समान माननीय और मान कर्ता जान कर (भूरिधायाः)

पा० ६ । १ । १३५ । इति सांहितिको दीर्घः । वयं जानीमः । शरस्य । शृणाति शत्रून् । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति श्रु हिंसे-अप् । शत्रुनाशकस्य वाणस्य । अथवा, शरो वाणः, तदस्यास्ति । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । वाणवतः शूरपुरुषस्य । पितरस् । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ ० । उ० २ । ६५ । इति पा रक्षणे-तृन् वा तृच् निपातनात् साधुः । रक्षकम् । जनकम् । पर्जन्यम् । पर्णति सिञ्चति वृष्टिं करोतीति पर्जन्यः । पर्जन्यः । उ० ३ । १०३ । इति पृषु सेचने-अन्य प्रत्ययः, पस्य जकारः । पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परोजेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्-निरु० १० । १० । सेचकम् । मेघम् । मेघवद् उपकर्त्तारम् । भूरि-धायसम् । वहिहाधाभ्य-श्चन्द्रसि । उ० ४ । २२१ । इति भूरि + डुधाञ् धारणपोषणयोः दाने च-असुन्, स च णित् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० । ७ । ३ । ३३ । इति युक् । बहुपदार्थ-धारयितारं सृष्टेः पांशयितारं परमेश्वरम् विद्मी इति । विद्म-उ । वयं जानीम एव । सु । सुष्टु । अस्य । शरस्य । सातरम् । मान्यते पूज्यते सा माता । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ । उ० २ । ६५ । इति मान पूजायाम्-तृन् वा तृच् निपातः । माननीयाम् । जननीम् । पृथिवीम् । १ । ३० । ३ प्रथिन्नदिभ्रसजां सम्प्रसारणं सलोपश्च । उ० १ । २८ । इति प्रथ प्रख्याने-कु । वीतो गुणवचनात् । पा० ४ । १ । ४४ । इति । पृथु—ङीप् । विस्तीर्णा प्रख्याता वा पृथिवी । अथवा, प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी । प्रथेः पिवन्पवन्प्वनः सम्प्रसारणं च । उ० १ । १५० । इति प्रथ ख्यातौ विस्तारे-पिवन्, सम्प्रसारणं च । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । भूमिम् । भूमिवद् गुणवन्तम् । भूरि-वर्षसम् । व्रियते स्वीक्रियते तत् । वर्षो रूपम्-निघ० ३ । ७ । वृङ्शीङ्भ्यां रूप-

अनेक प्रकार से पोषण करने वाला और (भूरिवर्षाः) अनेक वस्तुओं से युक्त होकर परोपकार में सदा प्रसन्न रहे ॥ १ ॥

ज्याके परिं णो नुमाश्मानं तन्वै कृधि ।

वीडुर्वरीयीऽरातीरप द्वेष्यांस्या कृधि ॥ २ ॥

ज्याके । परिं । नः । नम । अश्मानम् । तन्वैम् । कृधि ।

वीडुः । वरीयः । अरातीः । अप । द्वेष्यांसि । आ । कृधि ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—[हे इन्द्र] (ज्याके) जय के लिये (नः) हम को (परि) सर्वथा (नम) तू भुका, (तन्वम्) [हमारे] शरीरको (अश्मानम्) पत्थर सा [गुच्छ] (कृधि) बनादे । (वीडुः) तू दृढ़ होकर (अरातीः) विरोधों और (द्वेष्यांसि) द्वेषों को (अप = अपहृत्य) हटाकर (वरीयः) बहुत दूर (आकृधि) करदे ॥ २ ॥
अथवा, (ज्याके) दोनों जय के साधनों [मेघ और भूमि] को (नःपरि) हमारी ओर (नम) तू भुका । यह अर्थ प्रयुक्त करो ।

भावार्थ—परमेश्वर में पूर्ण विश्वास करके मनुष्य आत्मबल और शरीर बल प्राप्त करें और सब विरोधों को मिटावें ।

स्वाङ्गयोः पुट् च । उ० ४ । २०१ । इति वृड् स्वीकरणे—अमुन्, पुट् आगमः । भूरीणि वह्नि रूपाणि वस्तूनि यस्मिन् स भूरिवर्षाः । अनेकवस्तुयुक्तं परमेश्वरम् ॥

२—ज्याके । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीपूनिति घा-निघ० ६ । १७ ॥ खजेराकः । उ० ४ । १३ । इति जि जये-आकप्रत्ययः । निपात्यते च । सप्तम्यधिकरणे च । पा० २ । ३ । ३६ । अत्र । निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी षक्तव्या । वार्तिकम् । इति निमित्ते सप्तमी । जयनिमित्ते=जयार्थम् । यद्वा १ । १ । ३ । ज्या-स्वार्थेकन, टाप् च । जयसाधने [उभे पर्जन्यपृथिव्यां]—द्वियां द्वितीयाद्विवचनम् । परि । परितः सर्वतः । नः । अस्मान् । नम । नमय, प्रहो-कुरु । अश्मानम् । अशि शक्तिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अश्रू व्याप्तौ वा अश भोजने—मनिन् । अश्मा मेघनाम-निघ० १ । १० । पाषाणं, प्रस्तरघट्ट इदम् । तन्वम् । १ । १ । १ छन्दसि यण् । उदात्तस्वरतयोर्यणः स्वरतोऽनुदात्तस्य । पा० २ । १४ । इति खरितः । तनूम्, शरीरम् । कृधि । डुकृञ् करणे—लोट् । कुरु । वीडुः । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति वील संस्तम्भे—उ, लस्य डः । वीलु-

सायणाचार्य ने अर्थ किया है कि (ज्याके) हे कुत्सित चित्ता ! (नः) हम को (परि) छोड़ कर (नम) झुक । हमारी समझ में वह असंगत है, संपूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र है ॥

वृक्षं यद्गावः परिष्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्युभुम् ।
शरुंस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

वृक्षम् । यत् । गावः । परि-सस्वजानाः । अनु-स्फुरम् । शरम् ।
अर्चन्ति । ऋभुम् । शरुंम् । अस्मत् । यावय । दिद्युम् । इन्द्र ॥ ३ ॥

भाषार्य—(यत्) जब (वृक्षम्) धनुष से (परि-सस्वजानाः) लिपटी हुयी (गावः) चित्ते की डोरियां (अनुस्फुरम्) फुरती करते हुये (ऋभुम्) विस्तीर्ण ज्योति वाले, अथवा सत्य से प्रकाशमान वा वर्तमान, बड़े बुद्धिमान् (शरम्) वाणधारी शरपुरुष की (अर्चन्ति) स्तुति करें । [तव] (इन्द्र) हे बड़े पेश्वर्यवाले जगदीश्वर ! [वा. हे वायु !] (शरुम्) वाण और (दिद्युम्) वज्र को (अस्मत्) हम से (यावय) तू अलग रख ॥ ३ ॥

बलनाम निघ० २ । ६ । वीलयतिश्च व्रीलयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ । निरु०
५ । १६ । वीङ्ग्वी दृढा । वरीयः । प्रियस्थिरेत्यादिना । पा० ६ । ४ । १५७ ।
इति उरु—ईयसुन् । वरादेशः । क्रियाविशेषणम् । उरुतरं दूरतरम् । अरातीः ।
न राति ददाति सुखं स अरातिः शत्रुः । किञ्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ ।
१७४ । इति रा दाने—किञ्, नञ् समासः । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण० । पा० ७ । १ ।
३६ । इति पूर्वसवर्णः । अरातीन् शत्रून् । यद्वा किन् प्रत्ययान्ते, शत्रुभावान्,
विरोधान् । अप । अपहृत्य । द्वेषांसि । द्विप अप्रीतौ भावे—असुन् । द्वेषान्
आ । ईपदर्थे ।

३—वृक्षम् । स्तु वृक्षिन् कृत्पिभ्यः कित् । उ० ३ । ६६ । इति ओ व्रश्चू
छेदने—क्स प्रत्ययः । वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो व्रश्चनात् — निरु० २ । ६ ।
धनुर्दण्डम् । धनुः । यत् । यदा । गावः । गमेडोः । उ० २ । ६७ । इति गम्लु गतौ—
डो । ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितमथचेन्न गव्या गमत्तीपूनिक्ति—निरु०
२ । ५ । ज्याः, मौर्व्यः । परि-सस्वजानाः । पञ्च परिष्वङ्गे, लिटः कानच्,
नकारलोपे द्विर्वचनम् । आशिलष्य धनुष्कोटौ आरोपिताः । अनु-स्फुरम् ।

भाषार्थ—जब दोनों ओर से (आध्यात्मिक वा आधिभौतिक) घोर संग्राम होता हो, बुद्धिमान् चतुर सेनापति ऐसा साहस करे कि सब योद्धा लोग उस की बड़ाई करें, और वह परमेश्वर का सहारा लेकर और अपने प्राण घायु को साधकर शत्रुओं को निरुत्साह करदे, और जय प्राप्त करके आनन्द भोगे ॥३॥

निरुक्त अध्याय २, खंड ६ और ५ के अनुसार (वृत्त) का अर्थ [धनुष] इस लिये है कि उस से शत्रु छेदा जाता है और (गौ) का नाम चिल्ला इसलिये है कि उस से वाणों को चलाते हैं ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।

एवा रोगं चास्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

यथा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । अन्तः । तिष्ठति । तेजनम् ।
एव । रोगम् । च । आ-स्त्रावम् । च । अन्तः । तिष्ठतु । मुञ्जः । इत् ॥४॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तेजनम्) प्रकाश (द्यां च) सूर्य लोक (च) और

स्फुर संचलने-घञर्थे कविधानम् । प्रतिस्फुरणम्, स्फूर्तियुक्तम् । शरम् ।
म० १ । शत्रुछेदकम् । वाणधारकं शरम् । अर्चन्ति । पूजयन्ति; स्तुवन्ति ।
ऋभुम् । ऋ गतौ—क्लिप् । ऋकारः=उरु वा ऋतम् । ऋ + भा दीप्तौ वा भू सत्ता-
याम्-डु । यद्वा, उरुशब्दस्य ऋतशब्दस्य वा ऋकार आदेशः । ऋभव उरु
भान्तीति वर्त्तेन भान्तीति वर्त्तेन भवन्तीति वा-निरु० ११ । १५ । ऋभुः=मेधावी-
निघ० ३ । १५ । उरुभासनम्, ऋतेन सत्येन भान्तं भवन्तं वा । मेधाविनम् । शरुम् ।
श्रृस्वृस्निहि० उ० १ । १० । इति श्रृ हिंसायाम्-उ प्रत्ययः । छेदकं वाणम् । अस्मत् ।
अस्मत्तः । यवय । शु मिश्रणामिश्रणयोः-शिच्-लोट् । पृथक्कुरु, दिव्युम् ।
द्युतिगमिजुहोतां द्वे च । वार्त्तिकम् । पा० ३ । २ । १७८ । इति द्युत दीप्तौ-क्लिप् ।
द्योतते उज्ज्वलत्वात् । अथवा दो अवखण्डने-क्लिप् । द्यति खण्डयति शत्रून् ।
पृषोदरादिः । तलोपशब्दान्दसः । दिद्युत्, वज्रः, निघ० २ । २० । वज्रम् । इन्द्र ।
ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इदि परमेश्वर्ये—रन् । जिनत्यादिर्नित्यम् ।
पा० ६ । १ । १६७ । इति नित्वात् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितत्वात् सर्वानुदा-
त्तत्वम् । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा ।
पा० ५ । २ । ६३ । वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः-निरु० । ७ । ५ । हे परमेश्वर्य-
वन्, वायो, हे जीव ।

४—यथा । येन प्रकारेण । द्याम् । गमेडोः । उ० २ । ६७ । इति बाहु-

(पृथिवीम्) पृथिवी लोक के (अन्तः) बीच में (तिष्ठति) रहता है। (एव) वैसे ही (मुञ्जः) शोधने वाला परमेश्वर [वा औषध] (इत्) भी (रोगं च) शरीर भंग (च) और (आस्त्रावम्) रुधिर के बहाव वा घाव के (अन्तः) बीच में (तिष्ठतु) स्थित होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बाहरी और भीतरी क्लेशों में (मुञ्ज) हृदय संशोधक परमेश्वर का स्मरण रखते हैं वे दुःखों से पार होकर तेजस्वी होते हैं। अथवा जैसे सद्ब्रह्म (मुञ्ज) संशोधक औषधि से बाहरी और भीतरी रोग का प्रतीकार करता है, वैसे ही आचार्य विद्या प्रकाश से ब्रह्मचारी के अज्ञान का नाश करता है ॥ ४ ॥

सायण भाष्य में (तेजनम्) नपुंसक लिङ्गको [तेजनः] पुलिग मानकर [वेणुः] अर्थात् वांस अर्थ किया है वह असंगत है ॥

सूक्तम् ३ ॥

१-८ ॥ पर्जन्यादयो देवताः । १-५ पंक्तिः ८×५, ६-८ अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

शान्तिकरणम्—शान्ति के लिये उपदेश ।

विद्मामा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृषण्यम् ।

तेनां ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां तं निषेचनं

ब्रह्मिष्ठं अस्तु वालिति ॥ १ ॥

लकात् घृत् दीप्तौ-डो प्रत्ययः । सूर्यलोकम् । पृथिवीम् । मं० २ । प्रख्यातां विस्तीर्णां वा भूमिम् । अन्तः । अम गतौ-अरन्, तुडागमः । अन्तरान्तरेण युक्ते पा० २ । ३ । ४ । इति छन्दसि मध्यशब्दस्य पर्यायवाचकत्वात् अन्तर् इति शब्देन सह द्वितीया । द्वयोर्मध्ये । तिष्ठति । वर्तते । तेजनम् । नपुंसकम् । तिज्ज तीक्ष्णीकरणे-ल्युट् । तेजः प्रकाशः । एव । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति छन्दसि दीर्घम् । एवम्, तथा । रोगम् । पद रुजविशस्पृशो घञ् । पा० ३ । ३ । १६ । इति रुज भंगे हिंसे च-घञ् । रुजति शरीरम् । शरीरभंगम् । आस्त्रावम् । श्याऽऽह्वयधासु० । पा० ३ । १ । १४१ । इति आङ्+सु स्रवणे-ण प्रत्ययः । अचो ङ्गिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । आस्त्रावम्, रुधिरादिचवणम् । आघातम् । मुञ्जः । मुञ्ज्यते मृज्यते अनेन । मुजि मार्जने शोधने-अच् । परमेश्वरः संशोधकः पदार्थो वा । इत् । एव । अपि ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । पर्जन्यम् । शत-वृषण्यम् । तेन । ते । तन्वे
शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । वहिः । ते । अस्तु ।
वाल् । इति ॥१॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा वाण धारी] शर के (पितरम्) रक्षक,
पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (शतवृषण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले
[परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान]से (ते)तेरे (तन्वे) शरीर
के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूं, और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा
(निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे, और (ते) तेरा (वाल्) वैरी (वहिः)
बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ अन्न आदि उत्पन्न करता है वैसे ही मेघ के भी मेघ
अनन्त शक्तिवाले परमेश्वर को साक्षात् करके जितेन्द्रिय पुरुष (शतवृषण्य)
सैकड़ों सामर्थ्य वाला होकर अपने शत्रुओं का नाश करता और आत्मयत्न बढ़ा
कर संसार में वृद्धि करता है ॥ १ ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध के लिये १ । २ । १ । देखो ।

१-विद्म, शरस्य, पितरम्, पर्जन्यम् । इति पदानि व्याख्यातानि १ ।
२ । १ । शतवृषण्यम् । वर्षतीति वृषा । कनिन् शुवृषितज्ञात्यादिना । उ० १
१५६ । इति वृषु सेचने-कनिन् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति वृषन्-
यत् । वृषिण भवं वृषण्यं वीर्यं सामर्थ्यम् । बहु सामर्थ्योपेतं परमेश्वरम् । तन्वे ।
१ । १ । १ । तत्रवत् सिद्धिः स्वरितश्च । शरीराय । शम् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ।
पा० ३ । २ । ७५ । इति शमु उपशमने-विच् । शान्तिम्, स्वास्थ्यम् । सुखम्-निघ०
३ । ६ । करम् । डुकृञ् करणे-लेट् । अहं कुर्याम् । पृथिव्याम् । १ । २ । २ ।
प्रख्यातायां भूमौ । ते । तव । नि-सेचनम् । नि + पिच सेचने-भावे ल्युट् ।
आर्द्राकरणं, वर्धनम्, वृद्धिः । वहिः । वह प्रापणे—इसुन् । वाहम् वहिर्देशे ।
वाल् । बल वधे-क्लिप् बलति हिनस्तीति वाल् बलः, असुरः, दैत्यः, वैरी । इति ।
इण गतौ-क्तिच् । पर्याप्तम् अलम् (इति सर्वकम्) मं० ६-६ ॥

विद्मः शरस्यं पितरं मित्रं शतवृष्यम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बृहिष्टं अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्मः । शरस्यं । पितरम् । मित्रम् । शत-वृष्यम् । तेना । ते ।
तन्वे । शम् । कुरम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बृहिः ।
ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक शर [वा वाणधारी] के (पितरम्) रक्षक
पिता, (मित्रम्) सबके चलाने वाले [वा स्नेहवान्] वायु रूप (शतवृष्यम्)
सैंकड़ों सामर्थ्यवाले [परमेश्वर] का (विद्मः) हम जानते हैं । तेन उस [ज्ञान]
से - - - - - ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब प्राणियों के जीवन का आधार है वैसे ही परमे-
श्वर वायु का भी प्राण है इत्यादि ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (मित्र) शब्द का अर्थ दिन का अभिमानी देवता है ॥

विद्मः शरस्यं पितरं वरुणं शतवृष्यम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बृहिष्टं अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्मः । शरस्यं । पितरम् । वरुणम् । शत-वृष्यम् । तेना । ते ।
ते । तन्वे । शम् । कुरम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बृहिः ।
ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ३ ॥

२—मित्रम् । अमिचिमिशसिभ्यः क्त् । उ०४ । १६४ । इति डुमिञ् ।
प्रक्षेपणे—क्त् । मिनोति प्रेरयति वृष्टिं अन्यपदार्थान् चेति मित्रः, यद्वा मिद-
स्नेहे-त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः । वायुवत् उपकारकम् । मित्रशब्दो
भगवता यास्केन मध्यस्थानदेवतासु पठितः—निरु० १० । २१-२२ । अहरभि-
मानी देवो मित्रः—इति सायणः । वायुम् । दिनकालम् । शेषं पूर्ववद् योज्यम्,
मन्त्रे १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा वाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (वरुणम्) लोकों के ढकनेवाले आकाश रूप विस्तीर्ण (शतवृष्णयम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विष्णु) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान]से --- ॥ ३ ॥

भावार्थ---आकाश में सूर्य भूमि आदि लोक स्थित हैं और परमेश्वर के आधीन आकाश भी है--इत्यादि ॥ ३ ॥

(वरुण) मध्यस्थान देवतानिरु० १० । ३ । इस से वृष्टिजल का अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु (पर्जन्य) शब्द मं १ में आ चुका है, इस से यहां पर वृष्टि का आधार और सब का ढकने वाला आकाश अर्थ है। सायण भाष्य में रात्रि का अभिमानी देवता अर्थ है ॥

विद्मः शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्णयम्
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
ब्रह्मिष्ठे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥

विद्मः । शरस्य । पितरम् । चन्द्रम् । शत-वृष्णयम् । तेन ।
ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-षेचनम् ।
ब्रह्मिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक (वा वाणधारी) शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (चन्द्रम्) आनन्द देने वाले, चन्द्रमा रूप उपकारी (शतवृष्णयम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर को] (विष्णु) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से ॥ ४ ॥

३—वरुणम् । कृवदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति वृजू वरणे-उनन् । आवृणोति लोकान् । मध्यस्थानदेवतासु—वरुणो वृणोतीति सतः—निरु० १० । ३ । लोकानामावरकम्, अन्तरिक्षम् आकाशं वा । वरणो राज्यभिमानी देवः—इति सायणः । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्, मं० १ ।

४—चन्द्रम् । स्फायितञ्जीत्यादिना, उ० २ । १३ । इति चदि आह्लादने-रक् । चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः निरु० ११ । ५ । आह्लादकं देवं, हिमांशुम् ।

भावार्थ—(चन्द्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् अपनी किरणों से अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके प्राणियों को बल देता है। उस चन्द्रमा का भी आह्लादक वह परमेश्वर है, ऐसा ही मनुष्य को आनन्द देने वाला होना चाहिये ॥ ४ ॥

विद्मः शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं

बहिष्ते अस्तु बालि ॥ ५ ॥

विद्मः शरस्य । पितरं सूर्यं । शत-वृष्यम् । तेन । ते । तन्वे ।
शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-षेचनम् । बहिः । ते । अस्तु ।
बालि । इति ॥ ५ ॥

भावार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक [वा वायाधारी] शर के (पितरम्) रक्षक, पिता (सूर्यम्) चलनेवाले वा चलानेवाले सूर्य समान [उपकारी] (शतवृष्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूँ और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निषेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे और (ते) तेरा (बालि) बैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) वस यही ॥ ५ ॥

भावार्थ—(सूर्य) आकाश में वायु से चलता है और लोकों को चलाता और वृष्टि आदि उपकार करता और बड़ा तेजस्वी है। वह परब्रह्म उस सूर्य का भी सूर्य है। उसके उपकारों को जान कर तेजस्वी मनुष्य परस्पर उन्नति करते हैं ॥ ५ ॥

इन्दुम् । तद्वत् उपकारकम् । अन्यत्—यथा मं० १ ।

५—सूर्यम् । राजसूर्यसूर्येत्यादिना । पा० ३ । १ । ११४ । इति सृ सरणे ष्यप् । निपातनात् ऋकारस्य ऊत्वम् । सरत्याकाशे स सूर्यः । यद्वा, पू प्रेरणे, तुदादिः—ष्यप्, रुट् आगमः । सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः । यद्वा सु + ईर गतौ कर्मणि ष्यपि निपात्यते । वायुना । सुष्ठु ईर्यते प्रेर्यते स सूर्यः । सूर्यः सत्तर्वा सुवतर्वा स्वीर्यतेर्वा । इति यास्कः—निरु० १२ । १४ । आवित्यम्, सूर्यवत् उपकारकम् । शेषम्—ध्याण्यात्तम् मं० १ ।

यदान्त्रेषु' गवीन्योर्धद् वस्तावधि संश्रुतम् ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां वहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

यत् । आन्त्रेषु' । गवीन्योः । यत् । वस्तौ । अधि । सम्—श्रुतम् ।

एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । वहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (यत्) कि (आन्त्रेषु) आंतों में और (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में और (वस्ती अधि) मूत्राशय के भीतर (संश्रुतम्) एकत्र हुआ [मूत्र छूटता है] । (एव) वैसे ही (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र रूप (बाल्) बरी (वहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यही वस है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे शरीर में रुका हुआ सारहीन मल विशेष, मूत्र अर्थात् प्रस्राव क्लेश देता है और उस के निकाल देने से चैन मिलता है वैसे ही मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक शत्रुओं के निकाल देने से सुख पाता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (संश्रुतम्) के स्थान में (संश्रितम्) मानकर "समवस्थितम्" [ठहरा हुआ] अर्थ किया है ॥

६—यत् । यथा । आन्त्रेषु । अमत्यनेन. अम गतौ—क्त, । अति बन्धने — करणे ष्ट्रन् । उपधादीर्घः । अन्त्रेषु. उदरनाडीविशेषेषु । गवीन्योः । दृदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति गुड् ध्वनी—इनन् । डीप् । छान्दसो दीर्घः । पार्श्वद्वयस्ये नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते, तयोः—इति सायणः । वस्तौ । वसेस्तिः । उ० ४ । १२० । इति वस आच्छादने—ति प्रत्ययः । वसति मूत्रादिकम् । मूत्राशये । अधि । उपरि, मध्ये । सम् - श्रुतम् । श्रु श्रवणे गतौ च-क्त । सम्यक् श्रुतम् । संगतम् । एव । एवम्, तथा । मूत्रम् । मूत्र प्रस्रावे—घञ् । यद्वा, सिविमुच्योष्टेरूच । उ० ४ । १६३ । इति मुच त्यागे—ष्ट्रन्. ऊत्वं च । मुच्यते त्यज्यते इति । प्रस्रावः, मेहनम् । सारहीनो मलद्रवः । मुच्यताम् । मुच—कर्मणि लोट् । त्यज्यताम्, निर्गच्छतु । सर्वकम् । अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् षेः । पा० ५ । ३ । ७१ । इति अकच् । सर्वम् । अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

प्र ते भिनद्धमि मेहनं वत्रं वेशन्त्या इव ।

एवा ते सूत्रं मुच्यतां ब्रुहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥

प्र। ते। भिनद्धि। मेहनम्। वत्रम्। वेशन्त्याः—इव।

एव। ते। सूत्रम्। मुच्यताम्। ब्रुहिः। बाल्। इति। सर्वकम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्र द्वार को (प्रभिनद्धि) मैं खोले देना हूँ, (इव) जैसे (वेशन्त्याः) भील का पानी (वत्रम्) बन्ध को [खोल देता है]। (एव), वैसे ही…… म. ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सदैव लोह शलाका से रोगी के रुके हुये मूत्र को भील के पानी के समान खोलकर निकाल देता है वैसे ही मनुष्य अपने शत्रु को निकाल देवे ॥ ७ ॥

विपितं ते वस्तिविलं समुद्रस्योदुधेरिव ।

एवा ते सूत्रं मुच्यतां ब्रुहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ८ ॥

वि-पितम्। ते। वस्ति-विलम्। समुद्रस्य। उदुधेः—इव।

एव। ते। सूत्रम्। मुच्यताम्। ब्रुहिः। बाल्। इति। सर्वकम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—(ते) तेरा (वस्तिविलम्) मूत्र मार्ग (विपितम्) खोल दिया

प्र+भिनद्धि। भिदिर् विदारणे—लट्। व्यवहिताश्च। पा० १। ४। ८२। इति उपसर्गस्य व्यवधानम्। विवृणोमि, विवृतं करोमि। मेहनम्। मिह सेचने-करणे ल्युट्। मेहति सिञ्चति मूत्रम्। सूत्रमार्गम्। वत्रम्। सर्वधातुभ्यः ष्टन्। उ० ४। १५६। वृत्तु वर्तने-ष्टन्। बन्धम्। वेशन्त्याः। जृविशिभ्यां भृच्। उ० ३। १२६। इति विश प्रवेशे—भृच्। भोऽन्तः। पा० ७। १। ३। इति भस्य अन्तादेशः। वेशन्तः, जलाशयः। भवे छन्दसि। पा० ४। ४। ११०। इति यत्। वेशन्ते सरोवरे भवा आपः। अन्यत् पूर्ववत् म० ६।

ट-वि-सितम्। वि+पो अन्तकर्मणि—क्त, यद्वा, पिञ् बन्धे—क्त। विमुक्तम् वस्ति-विलम्। म० १। वस्ति+विल स्तृती-क। मूत्रस्य छिद्रं मार्गम्।

गया है, (इव) जैसे (उद्धेः) जल से भरे (समुद्रस्य) समुद्र का [मार्ग]। (एव) वैसे ही.....। म. ६ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो ॥

यथेषुका पुरापतद्वसुष्ठाधि धन्वनः ।

एवा ते सूत्रं मुच्यतां ब्रुहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

यथा । इषुका । पुरा-अपतत् । अश्व-सृष्टा । अधि । धन्वनः ।
एव । ते । सूत्रम् । मुच्यताम् । ब्रुहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुष् से (अश्वसृष्टा) छुटाछुआ (इषुका) वाण (पुरा-अपतत्) शीघ्र चला गया हो । (एव) वैसे ही (ते) तेरा (सूत्रम्) सूत्र रूप (बाल्) वैरी (ब्रुहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यह वस है ॥ ६ ॥

भावार्थ—सरल है, ऊपर के मन्त्र देखो ॥ ६ ॥

समुद्रस्य । स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति सम्+उन्दी क्लेदने-रक्
सम्यक् उन्त्ति क्लेदयति जलेन जगत् इति समुद्रः । समुद्रः कस्मात् समुद्द्रव-
न्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुद्रको भवति
समुनत्तीति वा-निरु० २ । १० । समुद्रः = अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । सागरस्य ।
उद्धेः । कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ६३ । इति उद वा उदक + दुधाञ्
धारणपोपणयोः- कि । उदकपूर्णास्थ । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ॥

६—इषुका । इपुरीपतेर्गतिकर्मणो बधकर्मणो वा । निरु० ६ । १८ ।
इति ईष गतौ बधे—उ प्रत्ययः । स्वार्थे—कन्,टाप् । इषुः,वाणः । पुरा-अपतत् ।
पत गतौ—लङ् । शीघ्रं दूरे अगच्छत् । अश्वसृष्टा । सृज—वितर्गे—क ।
विमुक्ता । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादो । धन्वनः । कनिन् शुचुपितक्षिराजि-
धन्विद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ—कनिन् । धनुषः सकाशात्,
चापात् । शेषं पूर्ववत् म० ६ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१-४ । आपो देवताः १-३ गायत्री, ४ पङ्क्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

परस्परोपकारोपदेशः— परस्पर उपकार के लिये उपदेश ॥

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।

पृञ्चतीर्मधुना पर्यः ॥ १ ॥

अम्बयः । यन्ति । अध्व-भिः । जामयः । अध्वरि-यताम् ।

पृञ्चतीः । मधुना । पर्यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अम्बयः) पाने योग्य मातायें और (जामयः) मिलकर भोजन करने हारी, वहिनें [वा कुलस्त्रियां] (मधुना) मधु के साथ (पर्यः) दूध को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयताम्) हिंसा न करने हारे यजमानों के (अध्वभिः) सन्मार्गों से (यन्ति) चलती हैं ॥ १ ॥

१-अम्बयः । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४।११६ । इति अम्ब गतौ-इन् । प्रापणीया मानरः । मातृभूता आपः । अम्बाशब्दवद् अम्बिशब्दो वेदे मातृवाची । यथा । अम्बितमे नदीतमे । ऋ० २ । ४१ । १६ । अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके । य० ३४ । १८ । यन्तिः । इण् गतौ-लट् गच्छन्ति । अध्वभिः । अस्ति, गमनेन बलं नाशयति स अध्वा । अर्धे च । उ० ४ । ११६ । इति अद् भक्षण-कनिप्, पृषोदरादित्वात् दस्य धः । यद्वा । अत सातत्यगमने-क्वनिप्, तकारस्य धः । सन्मार्गैः । जामयः । वसिष्ठपिराजराजि० । उ० ४ । १२५ जम भक्षण-इञ् । जमन्ति, संगत्य भोजनं कुर्वन्ति ताः । कुलस्त्रियः । भगिन्यः । भगनीवत् सहायभूताः पुरुषाः । अध्वरि-यताम् । अध्वानं सत्पथं रातीति । अध्वन् + रा-दानग्रहणयोः-क । यद्वा । न ध्वरति कुटिलीकराति हिनस्तीति वा । न + ध्वृ कुटिलीकरणे, हिंसने च-अच् । अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः-निम्न० १ । ८ । सुप आत्मनः ष्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति अध्वर + ष्यच् । शतृ । ष्यचि च । पा० ७ । ४ । ३३ । अकारस्य ईत्वम् । सन्मार्गदातारं कौटिल्यरहितं वा यन्मिच्छतां यजमानानाम् । पृञ्चतीः । पृची सम्पर्क-शतृ । डीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पृञ्चत्यः । संयोज-

भावार्थ—जो पुरुष, पुत्रों के लिये माताओं के समान, और भाइयों के लिये बहिनों के समान, हितकारी होते हैं वे सम्मार्गों से आप चलते और सब को चलाते हैं ॥ १ ॥

असूः उपासूर्यं याभिर्वा सूर्यः सह ।

ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

असूः । याः । उप । सूर्ये । याभिः । वा । सूर्यः । सह ।

ताः । नः । हिन्वन्तु । अध्वरम् ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(असूः) वह (याः) जो [माता और बहिनें] (उप=उपेत्य) समीप होकर (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में रहती हैं, (वा) और (याभिः सह) जिन [माता और बहिनों] के साथ (सूर्यः) सूर्यका प्रकाश है। (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरम्) उत्तम मार्ग देने वाले वा हिंसा रहित कर्म को (हिन्वन्तु) सिद्ध करें वा बढ़ावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में दो बातों का वर्णन है एक यह कि किसी में उत्तम गुणों का होना, दूसरे यह कि उन उत्तम गुणों का फैलाना ॥ ३ ॥

१-जो नररत्न माता और भगिनियों के समान परिश्रमी और उपकारी होकर सूर्य रूप विद्या के प्रकाश में विराजते हैं और जिनके सत्य अभ्यास से सूर्यवत् विद्या का प्रकाश संसार में फैलता है, वह तपस्वी पुण्यात्मा संसार में सुख की वृद्धि करते हैं ॥

यन्त्यः । अधुना । फलिपाटिनमिमनिजनां गक्पटिनाकिधतश्च । उ० १ । १८ ।
इति मन ज्ञाने-उ । धश्चान्तादेशः । रसभेदेन । मधुरगुणेन । पयः । सर्व-
धातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति पीड् पाने-असुन् । दुग्धम्, रसम् ॥

२-असूः । अदस्, स्त्रियां जस् । ताः परिदृश्यमानाः । याः । अम्बयो जामयश्च,
म० १ । यद्वा । आपः, म० ३ । उप । समापे, उपेत्य । आधिययेन । आदरेण ।
सूर्ये । १ । ३ । ५ । आदित्यलोके । सूर्यवद् ज्ञानप्रकाशे । सूर्यप्रकाशे । याभिः । अम्बि-
जामिभिः । अद्भिः । वा । समुच्चये । विकल्पे । सूर्यः । १ । ३ । ५ । सवितृ-
लोकः । तद्गद् ज्ञानप्रकाशः । सवितृप्रकाशः । सह । पह जमायाम्-अच् । साहित्ये ।

२—जो (असूः) इत्यादि स्त्री लिंग शब्दों का संबन्ध मन्त्र ३ के (अपः) शब्द से माना जावे तौ यह भावार्थ है । पहिले जल सूर्तिमान पदार्थों से किरणों द्वारा सूर्य मंडल में [जहां तक सूर्य का प्रकाश है] जाता है, फिर वही जल सूर्य की किरणों से छिन्न भिन्न होने के कारण दिव्य बनकर भूमि आदि पदार्थों के आकर्षण से बरसता और महा उपकारी होता है । इस जल के समान, विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य आदि तप करके संसार का उपकार करते हैं ॥

अपो देवीरुपह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।

सिन्धुभ्यः कर्त्वम् हविः ॥ ३ ॥

अपः । देवीः । उप । ह्वये । यत्र । गावः । पिबन्ति । नः ।
सिन्धुभ्यः । कर्त्वम् । हविः ॥ ३

भाषार्थ—(यत्र) जिस जल में से (गावः) सूर्य की किरणों [वा गोयें आदि जीव वा भूमि प्रदेश] (नः) हमारे लिये (हविः) देने वा लेने योग्य अन्न वा जल (कर्त्वम्) उत्पन्न करने को (सिन्धुभ्यः) बहने वाले समुद्रों से (पिबन्ति) पान करती हैं । (देवीः) उस उत्तम गुण वाले (अपः) जल को (उप) आदर से (ह्वये) मैं बुलाता हूँ ॥ ३ ॥

नः । अस्माकम् । हिन्वन्तु । हिवि प्रीणने, लोट् । इदितो नुम्धातोः ।
पा० ७ । १ । ५८ । इति इदित्वात् नुम् । अथवा । हि वर्धने स्वादिः-लोट् । प्रीणयन्तु, साधयन्तु । वर्धयन्तु अर्ध्वरम् । म० १ । सन्मार्गदातृ हिंसारहितं वा कर्म । यज्ञम् ।

३—अपः । आपोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २।५८ । इति आप्लु व्याप्तौ-क्लिप् ।
इति अप् । अप् शब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । व्यापयित्रीः, जल-धाराः । जलवत् उपकारिणः पुरुषान् । देवीः नन्दिग्रहिपचादिभ्यः० । पा० ३ । १ । १२४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न-कान्तिगतिपु—पचाद्यच् । डीप् । दिव्याः, द्योतमानाः । ह्वये । अहमाह्वयामि ।
यत्र । यासु अप्सु । गावः १ । २ । ३ । धेनवः । उपलक्षणमेतत् । सर्वे जीवा इत्यर्थः । सूर्यकिरणः । भूलोकाः । पिबन्ति । पात्रा० इत्यादिना । पा० ७ । ३ । ७८ ।
इति पा पाने-शपि पिवादेशः । पानं कुर्वन्ति । नः । अस्मदर्थम् । सिन्धुभ्यः

भावार्थ—जल को सूर्य की किरणों समुद्र आदि से खींचती हैं वह जल फिर बरस कर हमारे लिये अन्न आदिक पदार्थ उत्पन्न करके सुख देता है। अथवा गौ आदि सब प्राणी जल द्वारा उत्पन्न पदार्थों से सुखी होकर सब को सुखी करते हैं, वैसे ही हम को परस्पर सहायक और उपकारी होना चाहिये ॥ ३ ॥

अप्सु १ न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनी

गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

अप्-सु । अन्तः । अमृतम् । अप्-सु । भेषजम् । अपाम् । उत ।
प्रशस्ति-भिः । अश्वाः । भवथ । वाजिनः । गावः । भवथ ।
वाजिनीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अप्सु अन्तः) जल के बीच में (अमृतम्) रोग निवारक अमृत रस है और (अप्सु) जल में (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है । (उत) और (अपाम्) जल के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) हे घोड़ो तुम, (वाजिनः) वेग वाले (भवथ) होते हो, (गावः) हे गौओ, तुम (वाजिनीः=०—न्यः) वेग वाली (भवथ) होती हो ॥ ४ ॥

स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च । उ० १ । ११ । इति स्यन्दू स्रवणे-उ प्रत्ययः, दस्य धः सम्प्रसारणं च । स्यन्दनशीलेभ्यः समुद्रेभ्यः सकाशात् । क्त्वस् । डुकृञ् करणे-तुम् । छान्दसं रूपम् । कर्तुम् । हविः । अर्चिशुचिहुस्तपिष्ठादिङ्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ इति । हु दानादानादनेषु—इसि । यद्वा । ह्वञ् आह्वाने—इसि । ह्वयते दीयते गृह्यते वा तद् हविः । हव्यम् । अलम् आवाहनम् । उदकम्-निघ० १ । १२ ।

४—अप्सु । मन्त्र ३ । जलधारासु । अन्तः । मध्ये । अमृतम् । रोगनिवारकं रसम् । भेषजम् । भिषजो वैद्यस्येदम् । भिषज्-अण्, निपातनात् एत्वम् । यद्वा भेषं भयं रोगं जयतीति, जि जये—ड । औषधम् अपाम् । म० ३ । जलधाराणाम् । उत । अपि च । प्रशस्ति-भिः । प्र + शन्स-स्तुतौ-क्तिन् । उत्तमगुणैः । अश्वाः । हे तुरगाः । भवथ । भू-लट् । यूयं वर्तध्वे ।

भावाय—जल से रोग निवारक और पुष्टि वर्धक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जैसे जल से उत्पन्न हुये घास आदि से गौयें और घोड़े बलवान् होकर उपकारी होते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य अन्न आदि के सेवन से पुष्ट रह कर और ईश्वर की महिमा जान कर सदा परस्पर उपकारी बनें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ. १।२३।१६, है ॥

भगवान् मनु ने कहा है—अ. १।८ ॥

सो ऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिंसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवाप्तुजत् ॥ १ ॥

उस [परमात्मा] ने ध्यान करके अपने शरीर [प्रकृति] से अनेक प्रजाओं के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये पहिले (अपः) जल को ही उत्पन्न किया और उस में बीज को छोड़ दिया ॥

सूक्तम् ५ ॥

१—४ । आपो देवताः । गायत्री छन्दः ॥

बलप्राप्त्युपदेशः— बल की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।

महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

आपः । हि । स्थ । मयः-भुवः । ताः । नः । ऊर्जे । दधातन ।

महे । रणाय । चक्षसे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! [जल के समान उपकारी पुरुषों] (हि)

वाजिनः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वाज—भूमि मत्वर्थीय इनि प्रत्ययः । वेगवन्तः, बलयुक्ताः । वाजी वेजनवान्-निरूः २ । २८ । गावः । १।२।३ हे धेनवः । अश्वाः । गावः-सर्वे प्राणिनः इत्यर्थः । वाजिनीः । ऋन्भ्यो डीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति वाजिन-डीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वाजिन्यः, वेगवत्यः, बलवत्यः ॥

१-आपः । १।४।३ । हे व्यापयिष्यः । जलधाराः । जलवत् उपकारिणः,

निश्चय करके (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) होते हो, (ताः) सो तुम (नः) तम को (ऊर्जे) पराक्रम वा अन्न के लिये, (महे) बड़े बड़े (रणाय) संग्राम वा रमण के लिये और (चक्षसे) [ईश्वर के] दर्शन के लिये (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल खान, पान, खेती, बाड़ी, कला, यन्त्र, आदि में उपकारी होता है, वैसे मनुष्यों को अन्न, बल, और विद्या की वृद्धि से परस्पर वृद्धि करनी चाहिये ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद १० । ६ । १—३ ॥ यजुर्वेद ११ । ५०—५२,
तथा ३६ । १४-१६ सामवेद उत्तरार्चिक प्रपा० ६ अर्थप्र० २ सू० १० ॥

यो वः शिवतमो रसुस्तस्य भाजयतेह नः ।

उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

यः । वः । शिव-तमः । रसः । तस्य । भाजयत । इह । नः ।

उशतीः-इव । मातरः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) रस है, (इह) यहां [संसार में] (नः) हम को (तस्य) उस

पुरुषाः । हि । निश्चयेन । स्थ । अस सत्तायां-लट् । भवथ । मयः-भुवः । मयः + भू सतायां-क्विप् । मिञ् हिंसायाम्-असुन् । मिनोति हिनस्ति दुःखम् । मयः सुखम्-निघ३ । ६ । सुखस्य भावित्रयः कर्त्त्यः । ताः । आपो यूयम् । नः । अस्मान् । ऊर्जे । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति ऊर्ज बलप्राणनयोः-क्विप् । वलार्थम् अन्नार्थं वा । दधातन । तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति दुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट्, तकारस्य तनप् आदेशः । धत्त, पोषयत । अहे । मह पूजायां-क्विप् । महते । विशालाय । रणाय । रण रवे-वन्नर्थे क । युद्धाय । यद्वा । रमतेमवि-ल्युट् मकारलोपश्चान्दसः । रमणाय । क्रीडनाय । रणाय रमणीयाय-निरु० ६ । २७ । यत्रावं मन्त्रो भगवता यास्केन व्याख्यातः । चक्षसे । चक्षेर्बहुलं शिच्च । उ० ४ । २३३ । इति चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-भावे असुन् । दर्शनाय ॥

२—शिव-तमः । अतिशयने तमधिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति तमप् । अतिशयेन कल्याणकरः । रसः । रस आश्वादे-अच् । सारः ।

का (भाजयत) भागी करो, (इव) जैसे (उशतीः) प्रीति करती हुई (मातरः) मातायें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मातायें प्रीति के साथ सन्तानों को सुख देती हैं और जैसे जल संसार में उपकारी पदार्थ है, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर उपकारी बन कर लाभ उठावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वी यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपो जुनयथा च नः ॥ ३ ॥

तस्मै^१ । अरम् । गमाम् । वः । यस्य^१ । क्षयाय । जिन्वथ ।

आपः । जुनयथ । च । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुषार्थी मनुष्यो !] (तस्मै) उस पुरुष के लिये (वः) तुम को (अरम्) शीघ्र वा पूर्ण रीति से (गमाम) हम पहुँचावें, (यस्य) जिस पुरुष के (क्षयाय) पेश्वर्य के लिये (जिन्वथ) तुम अनुग्रह करते हो । (आपः) हे जलो [जल समान उपकारी लोगो] (नः) हम को (च) अवश्य (जुनयथ) तुम उत्पन्न करते हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे जल, अन्न आदि को उत्पन्न करके शरीर के पुष्ट करने और नाँका, विमान आदि के चलाने में उपयोगी होता है इसी प्रकार जल के

भाजयतं । हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति भज सेवायां—णिच्-लोट् । भागिनः कुरुत । सेवयत । उशतीः । वश कान्ती=अभिलाषे-शतृ। उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति डीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्व-स्यर्णदीर्घः । उशत्यः, कामयमानाः, प्रीतियुक्ताः । मातरः । १ । २।१।जनन्यः ॥

३—अरम् । ऋ गती-अच् । शीघ्रम् । यद्वा, अल भूपणे निवारणे-अमु । तस्य रत्वम् । अलम्, पर्याप्तं पूर्णतया । गमाम् । गम्लृ गती णिच्-छान्दसो लोट् । वयं गमयाम, प्रापयाम । क्षयाय । परच् । पा० ३ । ३ । ५६ । इति चि निवासे पेश्वर्ये च—अच् । निवासाय । पेश्वर्यप्राप्तये । जिन्वथ । जिवि प्रीणने लट् । श्रूयं तर्पयथ । चर्धयथ । अनुगृहीध्वम् । आपः । १ । ४ । ३ । हे जल-

समान उपकारी पुरुष सब लोगों को लाभ और कीर्ति के साथ पुनर्जन्म देते हैं ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।

अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

ईशानाः । वार्याणास् । क्षयन्तीः । चर्षणीनाम् ।

अपः । याचामि । भेषजम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वार्याणाम्) चाहने योग्य धनों की (ईशानाः) ईश्वरी और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों की (क्षयन्तीः) स्वामिनी (अपः) जल धाराओं [जल के समान उपकारी प्रजाओं] से मैं, (भेषजम्) भय जीतनेवाले औषध को (याचामि) मांगता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जल से अन्न आदि औषध उत्पन्न होकर मनुष्य के धन और बल का कारण हैं । सो जल के समान गुणी महात्माओं से सहाय लेकर मनुष्यों को आनन्दित रहना चाहिये ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ. १०।६।५। है ॥

धाराः । जनयथ । हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति जनी प्रादुर्भावे-खिच-लट्, सांहितको दीर्घः । यूयं प्रादुर्भावयथ, उत्पादयथ, प्रजया यशसा वा वर्धयथ । च । अवधारणे, अवश्यम् । समुच्चये ॥

५—ईशानाः । ईश पेश्वर्ये-शानच् । ईश्वरीः, नियन्त्रीः । वार्याणाम् । ऋहलोर्णत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वृङ् संभक्तौ-रणत् । अभीगर्हदयेणां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । वरणीयानां, धनानाम् । क्षयन्तीः । क्षि निवासे, पेश्वर्येच-लटः शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । ईश्वरीः, स्वामिनीः । चर्षणीनाम् । कृपेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । इति कृप कर्षणे-अनि, चादेशः । आ-कर्षन्ति वशीकुर्वन्ति—इत्यर्थः । चर्षण्यः = मनुष्याः निघ० २ । ३ । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । मनुष्याणाम् । अपः । अकथितं च । पा० १ । ४ । १०४ । इति अपादाने द्वितीया । जलधाराः । जलधारासकाशात् । जलवत् उपकारिभ्यो मनुष्येभ्यः । याचामि । याचृ याच्ञायाम्—लट् । द्विकर्मकः । अहं याचे, प्रार्थये । भेषजम् । १ । ४ । ४ । रोगनिवर्तकम्, औषधम् ॥

सूक्तम् ६ ॥

१-४ ॥ आपो देवताः । १-३ गायत्री, ४ पंक्तिः, ८ × ५ अक्षराणि ॥

आरोग्यतोपदेशः—आरोग्यता के लिये उपदेश ॥

शं नो देवीरभिष्टुय आपो भवन्तु पीतये ।

शं योरभि स्रवन्तु नः ॥ १ ॥

शम् । नः । देवीः । अभिष्टुये । आपः । भवन्तु । पीतये ।

शम् । योः । अभि । स्रवन्तुः । नः ॥ १ ॥

भावार्थ—(देवीः) दिव्य गुण वाले (आपः) जल [जल के समान उपकारी पुरुष] (नः) हमारे (अभिष्टुये) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (पीतये) पान वा रक्षा के लिये (शम्) सुख दायक (भवन्तु) होंगे । और (नः) हमारे (शम्) रोग की शान्ति के लिये, और (योः) भय दूर करने के लिये (अभि) सब ओर से (स्रवन्तु) वर्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि से जल के समान उपकारी पुरुष सब के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति में प्रयत्न करते रहें ॥ १ ॥

१—शम् । १।३।१। सुखं, सुखकारिण्यः । देवीः । १।४।३। वा छन्दसि । पा० ६।१। १०६। इति जसि पूर्वसवर्णादीर्घः । देव्यः । दिव्याः । अभिष्टुये । अभि + इष्ट् वाञ्छायाम्—क्तिन् । शक्रन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६।१। ६४। इति पररूपम् । अभीष्टसिद्धये । आपः । १।४।३। जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः । पीतये । शुमास्थापाजहातिसां हलि । पा० ६।४। ६६। इति पा पाने—क्तिनि प्रत्यये ईत्वम् । यद्वा । पा रक्षणे, ओष्यायी, प्यैड वृद्धौ वा—क्तिन्, क्तिच् वा । यथा । पः क्तिच् । उ० १। ७१। इति पा—तु प्रत्ययः । पिबति पाति वा स पीतुः । कित्वात् ईकारः । पानाय, रक्षणाय, वृद्धये । शम् । १।३।१। रोगशमनाय । योः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३।२। ७५ । इति शु मिश्रणामिश्रणयोः—क्तिच्, सकारश्चान्दसः यद्वा । शु—डोस् ।

मन्त्र १, य० ३६ । १२ । मन्त्र १—३ ऋ० म० १० सू० ६ म० ४, ६, ७ ।
तथा मन्त्र २, ३ ऋ० म० १ सू० २३ म० २०, २१ हैं ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ २ ॥

अप्—सु । मे । सोमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषजा ।
अग्निम् । च । विश्व—शंभुवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमः) बड़े पेश्वर्य वाले परमेश्वर ने [चन्द्रमा वा सोम-
लता ने] (मे) मुझे (अप्सु अन्तः) व्यापन शील जलों में (विश्वानि) सब
(भेषजा=०-नि) औषधों को, (च) और (विश्वशंभुवम्) संसार के सुखदायक
(अग्निम्) अग्नि [विजुली वा पाचनशक्ति] को बताया है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब विद्याओं का प्रकाशक है, चन्द्रमा औषधियों को
पुष्ट करता है, और सोमलता मुख्य औषधि है । यह सब पदार्थ जैसे ऊल द्वार
औषधों, अन्न आदि और शरीरों के बढ़ाने, विजुली और पाचन शक्ति पहुँचाने
और तेजस्वी करने में मुख्य कारण होते हैं वैसे ही मनुष्यों को परस्पर
सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करना चाहिये ॥ २ ॥

शंयोः.....शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्, इति निरु० । ४ । २१ । भय-
पृथक्कारणाय । अभि । सर्वतः । स्तवन्तु । स्रु प्रस्रवणे । वर्षन्तु ॥

२—अप्सु । १ । ४ । ३ । व्यापयितृषु, जलेषु जलवद् गुणेषु मनुष्येषु-
इत्यर्थः । सोमः । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति पु प्रसवैश्वर्ययोः—मन् ।
सवति पेश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः । परमेश्वरः । चन्द्रमाः । सोमलता ।
अब्रवीत् । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लङ् । उपदिष्टवान् । अकथयत् । अन्तः ।
मध्ये । विश्वानि । सर्वाणि । भेषजा । १ । ४ । ४ । शेश्छन्दसि बहुलम् ।
पा० ६ । १ । ७० । इति शैलोपः । भेषजानि । भयनिवारणानि । औषधानि ।
अग्निम् । अङ्गेर्नलोपश्च । उ० ४ । ५० । इति अग्नि गतौ-नि, नलोपः ।
तेजः । वैश्वानरं । वह्निम् । पाचनशक्तिम् । विश्व-शंभुवम् । क्विप् च ।
पा० ३ । २ । ७६ । इति विश्व+शम्+भू-क्विप्, उवङ्, आदेशः । विश्वस्य
जगतः सुखस्थ भावयितारं कर्तारम्, सर्वसुखकरम् ॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे ३ मम ।

ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

आपः । पृणीत । भेषजम् । वरूथम् । तन्वे । मम ।

ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ३ ॥

भावार्थ—(आपः) हे व्यापन शील जलो [जल समान उपकारी पुरुषो] (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (च) और (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) चलने वा चलाने वाले सूर्य को (दृशे) देखने के लिये (वरूथम्) कवचरूप (भेषजम्) भय निवारक औषध को (पृणीत) पूर्ण करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे शुद्ध में योद्धा की रक्षा भिलम से होती है वैसे ही जल समान उपकारी पुरुष परस्पर सहायक होकर सब का जीवन आनन्द से बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

शं न आपो धन्वन्था ३ शम् सन्तवनुष्याः ।

शं नः खन्त्रिमा आपः शम्भुयाः कुम्भ आभृताः

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

शम् । नः । आपः । धन्वन्थाः । शम् । ऊं इति । सन्तु ।

सन्तुष्याः । शम् । नः । खन्त्रिमाः । आपः । शम् । ऊं इति ।

३-आपः । हे व्यापयितृणि जलानि [जल समानोपकारिणः पुरुषाः] ।
पृणीत । पृ पालनपूरणयोः-लोट् पालयत, पूरयत । भेषजम् । १ । ४ ।
४ । भयनिवारकम् । औषधम् । वरूथम् । ज्वृब्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । इति
वृञ् धरणे—ऊथन्, द्वियते शरीरगमनेन । तनुष्राणम्, कवचम् । तन्वे ।
१ । १ । १ । तद्धत् पदसिद्धिः खरितश्च । तन्यते धिस्तीर्यते तनूः । शरीराय ।
मम । मदीयाय । ज्योक् । ज्यो नियमे-डोकि । चिरकालम् । सूर्यम् ।
१ । ३ । ५ । जगतः प्रेरकम्, आदित्यम् । दृशे । दृशे विख्याते च । पा० ३।४।११ ।
इति दशिरु प्रसङ्गे-तुमर्थे कं प्रत्ययान्तो निपात्यते । द्रष्टुम् ॥

याः । कुम्भे । आ-भृताः । शिवाः । नः । सन्तु । वार्षिकीः ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) निर्जल देश के (आपः) जल (शम्) सुख दायक, (उ) और (अनूप्याः) जल वाले देश के [जल] (शम्) सुखदायक (सन्तु) होवे । (नः) हमारे लिये (खनित्रिमाः) खनती या फावड़ से निकाले गये (आपः) जल (शम्) सुखदायक होवे, (उ) और (याः) जो (कुम्भे) घड़े में (आभृताः) लाये गये वह भी (शम्) सुख दायी होवे, (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः) हम को (शिवाः) सुखदायी (सन्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे जल सब स्थानों में उपकारी होता है वैसे ही जल समान उपकारी मनुष्यों को प्रत्येक कार्य और प्रत्येक स्थान में परस्पर लाभ पहुंचाकर सुखी होना चाहिये ॥ ४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

४--शस्—१।३।१ । सुखकारिण्यः । नः—अस्मभ्यम् । आपः—
अलानि, जलघट्ट गुणिनः पुरुषाः । धन्वन्याः— कनिन् दुष्टिपितक्षिधन्वि-
राजिद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धवि गतौ-कनिन् । इदिच्चात् नुम् ।
इति धन्वन् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा०
६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । धन्वनि मरुभूमौ भवा आपः । ऊं इति । च ।
अनूप्याः । अनुगता आपो यत्रेति अनूपो देशः । ऋक्पूरब्धुः० । पा० ५ । ४ ।
७४ । इति अनु + अप्—अकारः समानान्तः । उदनोर्देशे । पा० ६ । ३ । ६८ ।
इति अप् शब्दस्य अकारस्य ऊकारः । पूर्ववद् यत् प्रत्ययः स्वरितश्च । अनूपे
जलप्राये देशे भवा आपः । खनित्रिमाः । अनु अवदारणे-अस्माच्छान्दसः
क्ति प्रत्ययः । आर्धधालुकस्थेड् बलादं । पा० ७ । २ । ३५ । इति इडागमः । क्त्रे
र्मन्मित्यम् । इति मप् चनित्रेण अखाविशेषेण निर्वृत्ताः कृपांश्वाः । कुम्भे ।
कुं भूमिं उभति जलेन । उन्भ पूरणे-अच् । शकन्धादित्वात् साधुः । घट्टे, कलशे ।
आ-भृताः । हब् हरणे-क्त । ह्यहोर्मः-इति भत्वम् । आहृताः, आनीताः ।
शिवाः । सुखदाय्यः । वार्षिकीः । छन्दसि टञ् । पा० ४ । ३ । १६ । इति
वर्षा + टञ् । ऊप् । जसि पूर्वसर्वणदीर्घः । वार्षिक्यः, वर्षासु भवाः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

~~~~~

सूक्तम् ७ ॥

१-७ ॥ इन्द्राग्नी देवते । १-४, ६, ७ अनुष्टुप् ८×४, ५ त्रिष्टुप्  
११ × ४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

स्तुवानमग्ने आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।

त्वं हि देव वन्दितो हुन्ता दस्योर्वभूविथ ॥ १ ॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातु-धानम् । किमीदिनम् ।

त्वम् । हि । देव । वन्दितः । हुन्ता । दस्योः । वभूविथ ॥ १ ॥

भाषार्य—(अग्ने) हे अग्ने! [अग्नि समान प्रतापी] (स्तुवानम्) [तेरी] स्तुति करते दृये (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहने वाले तुतरे को (आवह) ले आ । (हि) क्योंकि (देव) हे राजन् (त्वम्) तू (वन्दितः) स्तुति को प्राप्न करके (दस्योः) चोर या डाकू का (हुन्ता) हनन कर्ता (वभूविथ) हुआ था ॥ १ ॥

१—स्तुवानम् । षुञ् स्तुती—लटः शानच् । अचि श्नुधातुभ्रुवां० ।  
पा० ६ । ४ । ७७ । इति उचङ् । त्वां प्रलशन्तं स्तुवन्तम् । अग्ने । १ । ६ । २ ।  
अग्नि शब्दो यास्केन बहुविधिं व्याख्यातः, निरु० ७ । १४ । हे वह्ने, हे पावक,  
हे अग्निवत् तेजस्विन् सेनापते ! आ-वह । आनय । यातु-धानम्—हवा-  
पाजिनि० । उ० । १ । १ । इति यत् ताडने-उण् । यातुं पीड़ां दधाति ददाति ।  
दुधाञ्धारणपोषणदानेषु—युच् । पीडाप्रदं राजसम् । किमीदिनम् । किम् +  
इदानीम् वा किम् + इदम-इनि । किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और यशस्वी राजा दुःखदायी लुतरो [ चुगल खोरों ] और डाकुओं और चोरों को आधीन करता है तो शत्रु लोग उसके बल और प्रताप की प्रशंसा करते हैं और राज्यमें शान्ति फैलती है ॥१॥

( किमीदिन् ) शब्द का अर्थ भगवान् यास्क ने अत्र क्या हो रहा है वा यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहते हुये छली, सूचक वा चुगलखोर का किया है, निरु० ६।११ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ।

अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् विलापय ॥ २ ॥

आज्यस्य । पुरमे-स्थिन् । जात-वेदः । तनू-वशिन् ।

अग्ने । तौलस्य । प्र । अशान् । यातु-धानान् । वि । लापय ॥ २ ॥

भाषार्थ—( परमेष्ठिन् ) हे बड़े ऊंचे पदवाले ! ( जातवेदः ) हे ज्ञान वा धन के देने वाले ! ( तनूवशिन् ) शरीरों को वश में रखने हारे ! ( अग्ने ) अग्नि, राजन् ! तू ( तौलस्य ) तोल से पाये हुये ( आज्यस्य ) घृत का ( प्र-अशान् ) भोजन कर । और ( यातुधानान् ) दुखदायी राजसों से ( विलापय ) विलाप करा ॥ २ ॥

किमिदमिति वा पिशुनाय चरते-निरु० ६।११। इति यास्कवचनात् किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते- इति पवमन्वेपमाणः किमिदी, पिशुनः । साधुजनवैरिणं, सदा विरुद्धबुद्धिं, पिशुनम् । हि । यस्मात् । अवश्यम् । देव । १।४।३। हे द्योतमान । राजन् । वन्दितः । वदि स्तुत्यभिवादयोः—क । स्तुतः । नम-स्कृतः । हन्ता । हन—तृच् । हननकर्ता, घातयिता । दस्योः । यजिमनिशुन्धि-दसिजनिभ्यो युच् । उ० ३।२०। इति दसु उपक्षये—युच् । दस्यति परस्वान् नाशयतीति । चौरस्य । शत्रोः । बभूविथ । भू सत्तायां प्राप्तौ च—लिट् मध्य-मैकवचनम् । त्वं भवसि स्म ॥

२—आज्यस्य-। आङ् + अञ्ज मिश्रणे गतौ-क्यप्, न लोपः । कर्मणि षष्ठी, आ आज्यते शरीरेण । आज्यं, घृतम् । परमे-स्थिन् । परमे कित् । उ० ४।१० । इति परमे + ष्टा गतिनिवृत्तौ-इनि, स च कित् । हलन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ।

भावार्थ—जैसे अग्नि खुवादि के तौल व परिणाम से दिये हुये घृतादि हवन सामग्री को पाकर प्रज्वलित होता है वैसे ही प्रतापी राजा प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है, उससे प्रजा सदा आनन्द युक्त रहती है २॥

वि लपन्तु यातुधानां अत्त्रिणी ये किंसीदिनः ।

अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

वि । लपन्तु । यातु-धानाः । अत्त्रिणीः । ये । किंसीदिनः । अथ ।  
इदम् । अग्ने । नः । हविः । इन्द्रः । च । प्रति । हर्यतम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(ये) जो (यातुधानाः) पीड़ा देने हारे, (अत्त्रिणीः) पेट भरने वाले (किंसीदिनः) यह पया यह पया, ऐसा करने वाले लुतरे [हैं] [वे] (विलपन्तु)

पा० ६। ३। ६। इत्यलुक् । स्थास्थित्स्पर्शाम् । वा० पा० ८। ३। ६७। इति  
पत्वम् । परमे उत्तमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी । हे उच्चपदस्थ राजन् ।  
जात-वेदः । गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४।  
२२७। इति जात+विद् ज्ञाने, वा विद्दललाभे-असुन् । जातं प्रादुर्भूतं वेदो  
प्रानं घनं वा यस्मात् स जातवेदाः । जातवेदाः कस्माज् जातानि वेद जातानि  
घनं विदुर्जाते जाते विद्यन् इति वा जातचित्तो वा जातधनो जातविद्योवा जात-  
प्रधानो वा-इति निरु० ७। १६। हे जातधन, हे जातप्रधान । तन्नू-वशिन् ।  
घशोऽस्त्यस्य-इति । हे तनूनां अस्माकं शरीराणां वशयितः । अग्ने ।  
म० १। हे अग्निवन् तेजस्विन् । तौलस्य । तुल उन्माने- घञ् । तोल्यते  
उन्मीयते खुवादिना इति तोलम् । तोल-अण् । कर्मणि पष्ठी । तौलम् । तोलेन  
परिमाणेन कृतम् । प्र+अप्रधान । अश भोजने-लोट् । हलः श्नः शानञ् भौ ।  
पा० ३। १। ८३। इति शनाप्रत्ययस्य शानच् । हौ परतः । अतो हेः । पा० ६।  
४। ६०५। इति हेर्लुक् । त्वं भोजनं कुरु । भक्षय । यातु-धानान् ।  
मं० १। पीडाप्रदान् राक्षसान् । वि+लापय । हेतुमति च । पा० ३। १  
२६। इति वि चिकृतं । लप भाषे-शिच्-लोट् । विलापेन दुःख वचनेन युक्तान्  
कुरु ॥

३—विलपन्तु । लप कथने-लोट् । चिकृतं लपनं परिवेदमं कुर्वन्तु ।

विलाप करें। (अथ) और (अग्ने) हे अग्नि (च) और (इन्द्रः) हे वायु, तुम दोनों (इदम्) इस (हविः) होम सामग्री को (प्रति हर्यतम्) अंगीकार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि, वायु के साथ हवन सामग्री से प्रचंड होकर दुर्गन्धादि दोषों का नाश करती है वैसे ही अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा से दुःखदायी, स्वार्थी, बतवने लोग अपने किये का दंड पाकर विलाप करते हैं तब उसके राज्य में शान्ति होती है ॥ ३ ॥

अग्निः पूर्वं आ रभतां प्रेन्द्रे नुदतु वाहुमान् ।

ब्रवीतु सर्वो यातुमान्मयस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

अग्निः । पूर्वं । आ । रभताम् । प्र । इन्द्रः । नुदतु । वाहु-मान् ।  
ब्रवीतु । सर्वः । यातु-मान् । अयम् । अस्मि । इति । आ-इत्य ॥४॥

भाषार्थ—(पूर्वः) मुखिया (अग्निः) अग्नि रूप राजा (आरभताम्) [शत्रु-ओं] को पकड़ लेवे, (वाहुमान्) प्रबल भुजा वाला (इन्द्रः) वायु रूप सेनापति (नुदतु) निकाल देवे । (सर्वः) एक एक (यातुमान्) दुःखदायी राक्षस (एत्य) आकर (अयम् अस्मि) यह मैं हूँ-इति) ऐसा (ब्रवीतु) कहे ॥ ४ ॥

यातु-धानाः । म- १ । पीडाप्रदाः, राक्षसाः । अत्रिणः । अदेस्त्रिनिश्च ।  
उ० ४ । ६८ । इति अद् भक्षणे-त्रिनि । अदनशीलाः, उदरपोषकाः । किमी-  
दिनः । म० १ । विरुद्धबुद्धयः, पिशुनाः । अय । अनन्तरम् अपिच । इदम् ।  
प्रस्तुतमुपस्थितम् । अग्ने । म० १ । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् । हविः । १ ।  
४ । ३ । दानम् । हव्यं द्रव्यम् । आह्वानम् । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् ।  
वायुः । वायुवद् वेगवान् राजा । प्रति+हर्यतम् । हर्य गतिकान्त्योः-लोट् ।  
युवां कामयेथां, स्त्रीकुरुतम् ॥

४—अग्निः । म० १ । अग्निवत् तेजस्वी राजा । पूर्वं । पूर्वं निमन्त्रणे  
निवासे वा-अच् । पुरोगामी, मुख्यः । आरभताम् । रभ रभस्ये=उपक्रमे ।  
आङ् पूर्वकात् रभ स्पर्शे-लोट् । स्पृशतु । निगृह्णातु । इन्द्रः । १ । २ । ३  
वायुः, वायुवद् वेगवान् राजा । प्र + नुदतु । शुद्ध प्रेरणे तुदादित्वात् शः । प्रेरयतु ।



भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महा प्रतापी राजा उपद्रवियों को पकड़ता और देश से निकालता है तब उपद्रवी लोग अपना अपना नाम लेकर उस राजा के शरणागत होते हैं ॥ ४ ॥

पश्याम ते वीर्यं जातवेदुः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्  
नृचक्षः । त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आर्यन्तु  
प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥

पश्याम । ते । वीर्यम् । जात-वेदुः । प्र । नुः । ब्रूहि ।  
यातु-धानान् । नृ-चक्षुः । त्वया । सर्वे । परि-तप्ताः । पुरस्तात् ।  
ते । आ । यन्तु । प्र-ब्रुवाणाः । उपे । इदम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( जातवेदः ) हे ज्ञान देने हारे वा बहुत धन वाले राजा । (ते) तेरे (वीर्यम्) पराक्रम को (पश्याम) हम देखें, (नृचक्षुः) हे मनुष्यों के देखने हारे । (नः) हमें (यातुधानान्) दुःख दायी राजाओं को (प्रब्रूहि) बतादे । (त्वया) तुझ से (परितप्ताः) जलाये हुये (सर्वे) वह सब (प्रब्रुवाणाः) जय बोलते हुये (पुरस्तात्) [तेरे] आगे (इदम्) इस स्थान में (उप आ यन्तु) चले आवें ॥ ५ ॥

अपसारयतु । वाहुमान् । तदरयास्त्यस्मिन्निति मतुप् । पा० ५ । २ । ६४ । भूम-  
निन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबा-  
दयः ॥ १ ॥ कारिका ॥ इति वाहुशब्दात् प्रशंसायां मतुप् । प्रबलभुजः । महा-  
वली । ब्रवीतु । ब्रूञ्-लोट् । कथयतु । सर्वः ॥ निखिलः । यातु-मान् ।  
कृत्वा पा० ३० १ । १ । इति यत् ताडने-उण् । ततो मतुप् पूर्ववत् निन्दायाम् ।  
यातवो यातना विद्यन्तेऽस्मिन् स यातुमान् पीडावान्, महापीडाकारी ।  
अयम् । पतन्नामकोऽहम् । इति । एवम् । आ-इत्य । समासेऽनञ्पूर्व-  
वत्त्वो ल्यप् । पा० ७ । १ । ३७ । इति आङ् + इण् गतौ-इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यवा-  
देशः । ह्रस्वस्य पिति कृति० । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । आगत्य ॥

५—पश्याम । इतिश्च प्रेक्षणे-लोट् । पाघ्नाध्मास्था० । पा० ७ । ३ । ७८ ।  
इति शपि पश्यादेशः । अवलोकयाम । वीर्यम् । वीरस्य भावः, वीर-यत् ।

भाष्यार्थ—राजा को योग्य है कि अपने राज्य में विद्या प्रचार करे, सब प्रजा पर दृष्टि रखे और उपद्रवियों को अपने आधीन सर्वथा रखे कि वह लोग उसकी आज्ञा को सर्वदा मानते रहें ॥ ५ ॥

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थीय जज्ञिषे ।

दूतो नो अग्ने भुत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

आ । रभस्व । जात-वेदः । अस्माकम् । अर्थाय । जज्ञिषे । दूतः ।  
नः । अग्ने । भुत्वा । यातु-धानान् । वि । लापय ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान वा धन देनेवाले राजन् ! (आरभन्) वीरियों को पकड़ ले, (अस्माक) हमारे (अर्थाय) प्रयोजन के लिये (जज्ञिषे) तू उत्पन्न हुआ है । (अग्ने) हे अग्ने [सेनापते] (नः) हमारा (दूतः) दूत (भुत्वा) होकर (यातुधानान्) दुःख दायियों से (विलापय) विलाप करा ॥६॥

यद्वा, वीरे साधु । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ६२ । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १२५ । इति स्वरितः । पराक्रमम्, सामर्थ्यम् । जात-वेदः । म० २ । हे जातप्रज्ञान । नः । अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ इति । कर्मत्वम् । अस्मान् प्रति । प्र+ब्रूहि । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लोट्, द्विकर्मकः । प्रकथय । यातुधानान् । म० १ । पीडा प्रदान् राक्षसान् । नृचक्षः । चष्टिः पश्यति कर्मा । निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि-असुन्, नृन् मनुष्यान् चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः । हे मनुष्याणां द्रष्टः, अथवा उपदेशक । त्वया । अग्निना, अग्निवत् तेजस्विना । परि-तप्ताः । सम्यग् दग्धाः । पुरस्तात् । अग्ने । ते । प्रसिद्धाः । आ+यन्तु । ष्वन्तु प्र-ब्रुवाणाः । ब्रूञ्-शानच् । प्रकथयन्तः, जयं प्रलपन्तः । ब्रूदम् । दृश्यमानं स्थानम् ॥

६—आ+रभस्व । म० ४ । आङ्+रभ स्पर्श-लोट् । निगृहाण । जात-वेदः । म० २ । जातप्रज्ञान ! अस्माकम् । अन्त्यलोपशब्दान्दसः । अस्माकम् । अर्थाय । अर्थ याचने-वञ् । प्रयोजनाय, धनाय । जज्ञिषे । जनी प्रादुर्भावे लिट्, त्वं जातवानसि । द तः । दुतनिभ्यां दीर्घश्चः । उ० ३ । ६० । इति दु

भावार्थ—( दूत ) का अर्थ शीघ्रगामी और सन्तापकारी है, जैसे दूत शीघ्र चल कर संदेश पहुंचाता है वैसे ही विजुली रूप अग्नि शरीरों में प्रविष्ट होकर वेग उत्पन्न करता है अथवा काष्ठ आदि को जलाता है, इसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी और प्रतापी राजा अपनी प्रजा की दशा को जान कर यथोचित न्याय करता और दुष्टों को दण्ड देता है ॥६॥

त्वमग्ने यातु धानानुपबद्धाँ इहा वह ।

अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

त्वम् । अग्ने । यातु-धानान् । उप-बद्धान् । इहा । आ । वह ।  
अथ । एषाम् । इन्द्रः । वज्रेण । अपि । शीर्षाणि । वृश्चतु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उप बद्धान्) दृढ़ बांधे हुये (यातु-धानान्) दुःखदायी राजाओं को (इहा) यहां पर (आवह) लेआ । (अथ) और (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) कुल्हाड़े से (एषाम्) इनके (शीर्षाणि) मस्तकों को (अपि) भी (वृश्चतु) काट डाले ॥७॥

भावार्थ—अग्नि के समान प्रतापी और (इन्द्र) वायु के समान वेगवान् राजा उत्पातियों को कारागार में डाल दे और उनके सिर उड़ा दे ॥

इसी प्रकार सब मनुष्य आध्यात्म विषय में आत्मा को सेनानी, और लोभ,

गतौ-क्त । यद्वा दुदु उपतापे-क्त दीर्घश्च । दवति गच्छति दुनेत्युपतापयतीति  
दूतः । घात्ताहरः, सन्देशहरः । संतापकः । अग्निः । अग्ने । अग्निवत्  
तेजस्विन् राजन् । यातु-धानान् । म० १ । पीडाप्रदान् । विलापय ।  
म० २ । विलापयुक्तान् कुरु, रोदय ।

७—यातु-धानान् । म० १ पीडाप्रदान् । उप-बद्धान् । बन्ध बन्धने-क्त-  
दृढबन्धनयुक्तान् । इहा । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । अत्र ।  
अथ । च । तदनन्तरम् । एषाम् । यातुधानानाम् । इन्द्रः । १ । २ । ३ ।  
वायुः । वायुवद् वेगवान् । परमैश्वर्यवान् ॥ वज्रेण । ऋज्रेन्द्राश्वज्जविप्र० ।  
उ० २ । २८ । इति वजगतौ-रन् । कुलिशेन, कुठारेण । अपि । एव, अवश्यम् ।  
शीर्षाणि । शीर्षश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन्

मोह, आदि को शत्रु, और गृहस्थिति में गृहपति को सेनापति और विघ्नो को बैरी मान कर योग्य व्यवहार करें ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-४ ॥ अग्निः सोमश्च देवते । १-३ अनुष्टुप् ८×४, ४ त्रिष्टुप्  
११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।

य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

इदम् । हविः । यातु-धानान् । नदी । फेनम्-इव । आ ।

वहत् । यः । इदम् । स्त्री । पुमान् । अकः । इह । सः ।

स्तुवताम् । जनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (हविः) [हमारी] भक्ति (यातुधानान्) राजसों को (आवहत्) ले आवे, (इव) जैसे (नदी) नदी (फेनम्) फेन को । (यः) जिस किसी (पुमान्) मनुष्य ने अथवा (स्त्री) स्त्री ने (इदम्) इस [पापकर्म] को (अकः) किया है (सः जनः) वह पुरुष (स्तुवताम्) [तेरी] स्तुति-करे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजा की पुकार सुनकर जब राजा दुष्टोंको पकड़ता है, अपराधी स्त्री और पुरुष अपने अपराध को अंगीकार कर लेते और उस प्रतापी राजा की स्तुति करते हैं ॥१॥

आदेशः । शिरांसि, मस्तकानि । वृश्चतु । ओवश्चू छेदने, तुदादित्वात् शः । छिनत्तु ॥

१—इदम् । प्रस्तुतं, क्रियमाणम् । हविः । १ । ४ । ३ । दानम् । भक्तिः । आवहनम् । यातु-धानान् । १ । ७ । १ । पीडाप्रदान् राजसान् । नदी । मन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणित्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति णद ध्वनौ-पचाद्यच् । गणे नद्द् इति पाठात् टित्त्वात्-ङीप् । नदति प्रवाहवेगेन शब्दायत इति । नद्यः

(स्त्री) शब्द का अर्थ संग्रह करने वाली वा स्तुति योग्य, और [ पुमान् ] का अर्थ रक्षक वा पुरुषार्थी है ।

अयं स्तुवान् आगमदिमं स्म प्रति ह्यत ।

वृहस्पते वशं लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥

अयम् । स्तुवानः । आ । अगमत् । इमम् । स्म । प्रति । ह्यत् ।

वृहस्पते । वशं । लब्ध्वा । अग्नीषोमा । वि । विध्यतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [शत्रु] (स्तुवानः) स्तुति करता हुआ (आ-अगमत्) आया है, (इमम्) इसका (स्म) अवश्य (प्रति ह्यत) तुम सब स्वागत करो । (वृहस्पते) हे बड़े बड़ों के रक्षक राजन् ! [दूसरे वैरी को] (वशे) वश में (लब्ध्वा) लाकर [चर्त्तमान हो], (अग्नीषोमा=०-मौ) हे अग्नि और चन्द्रमा ! तुम दोनों [अन्य वैरियों को] (वि) अनेक भांति से (विध्यतम्) ताड़ो ॥ २ ॥

कस्मात् नदना भवन्ति शब्दवत्यः—निरु० २ । २४ । नदन्शीला, सरित्, तरङ्गिणी । फेनम् । फेनमीनौ । उ० ३ । ३ । इति स्फायी वृद्धौ-नक्, फेशब्दादेशः । स्फायते वर्धते स फेनः । हिरण्डीरम्, समुद्रफेनम् । आ+वहत् । वह प्रापणे-लोट् । आनयेत् । स्त्री । स्तायतेर्ङ् । उ० ४ । १६६ । इति स्त्यू संहतौ, ध्वनौ-ङ्, डीप् । स्त्यायति शब्दयति गृह्णाति वा गुणान् सा । यद्वा, ष्टुञ् स्तुतौ-ङ्, डीप् । स्तौति गुणान् वा स्तूयते सा स्त्री । नारी । पुमान् । पातेर्ङ्मसुन् । उ० ४ । १७८ इति पा रक्षणे डुमसुन् । डित्वात् टिलोपः । पातीति पुमान् मनुष्यः, पुरुषः । अकः । डुकञ् करणे-लुङ् । इल्लड्यान्भ्यो दीर्घात्० । पा० ६ । १ । ६८ । इति ति इत्यस्य इकार लोपे तलोपः । अकार्पात् । स्तुवताम् । ष्टुञ् स्तुतौ-लोट् । छन्दसि शः । स्तुतिं करोतु । जनः । जनी प्रादुर्भावे, वा जन जनने-अच् । जायते जनयति वा स जनः । लोकः ॥

२—अयम् । शत्रुः । स्तुवानः । ष्टुञ् स्तुतौ—शानच् । युष्मान् स्तुवन् । आ+अगमत् । गम्ल् गतौ—लुङ् । आगतवान् । इमम् । शत्रुम् । स्म । अवश्यम् । प्रीत्या । प्रति+ह्यत । ह्यं गतिकान्त्योः-लोट् । यूयं प्रतिकाम-ध्वम्, स्वकीयत्वेन परिगृह्णीत । वृहस्पते । तद्बृहतोः करपस्योश्चोरदेवतयोः

भावार्थ—जो शत्रु राजा को प्रभुन्य मानकर शरणागत हो, राजा और कर्मचारी उसका स्वागत करें। प्रतापी राजा दूसरे वैरी को शम दम आदि से अपने आधीन रखे। और अन्य वैरियों को (अग्नीषोमा) बंड देने में अग्नि सा प्रचंड और न्याय करने में (सोम) चन्द्रमा सा शान्त स्वभाव रहे ॥२॥

यातुधानस्य सोमप जुहि प्रजा नयस्व च ।

नि स्तुवानस्य पातय परमक्षुतावरम् ॥ ३ ॥

यातु-धानस्य । सोम-प । जुहि । प्र-जाम् । नयस्व । च ।

निः । स्तुवानस्य । पातय । परम् । अक्षि । उत । अवरम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) हे अमृत पीने हारे [राजन्] तू (यातुधानस्य) पीड़ा देने हारे पुरुष के (प्रजाम्) मनुष्यों को (जुहि) मार, (च) और (नयस्व) लेया । (निस्तुवानस्य) अपस्तुति [निन्दा] करते हुये [शत्रु की] (परम्) उत्तम [हृदय]

सुट् तलोपश्च । वार्त्तिकम्, पा० ६ । १ । १५७ । इति घृहत् + पतिः, सुट् आगमः, तकारलोपश्च । हे घृहतां महतां विदुषां पातयितः, विहन् राजन् ! । वशे । वशिरण्यौरुपसंख्यानम् । वा० । पा० ३ । ३ । ५८ । इति वश स्पृहायां—अप् । अधीनत्वे, आयत्ततायाम् । लब्ध्वा । लभ प्राप्तौ—क्त्वा । आनीय । प्राप्य [अन्य शत्रुं तिष्ठ, इति शेषः] । अग्नीषोमा । अग्निश्च सोमश्चेति द्वन्द्वे । ईदग्नेः सोमवरुणयोः । पा० ६ । ३ । २७ । इति ईत्त्वम् । अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः । पा० ८ । ३ । ८२ । इति पत्वम् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति पूर्वसर्वण-दीर्घः । अत्तिस्तुसुदुष्टधृत्ति० । उ० १ । १४० । इति पु पेश्वर्यप्रसवयोः—मन् । सवति पेश्वर्यहेतु भवतीति, यद्वा सवति सौति अमृतमुत्पादयतीति सोमः । वायुः । चन्द्रः । बलवर्धकौपधविशेषः । अमृतम् । अग्निः । अग्निवत् तेजः । वायुः, वायुवद् वेगः, अथवा चन्द्रवत् प्रजायै शान्तिप्रदगुणः । अनेन सेनापति-गुणद्वयवर्णनम् । वि । विविधम् । विध्यतम् । व्यधताङ्गे—लोट् । युवां ताडय-तम् अन्यं पापात्मानम् ॥

३—यातु-धानस्य । १ । ७ । १ । पीडाप्रदस्य । सोम-प । आतोऽनुपस-गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति सोम + पा पाने-क । हे अमृतस्य पातः ! जुहि ।

की] (उत) और (अवरम्) नीची [शिर की] (अत्ति) आंख को (पातय) निका-  
लदे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप] अमृत पीने हारा अर्थात् शान्त स्व भाव यशस्वी  
राजा दुष्टों का नाश करे और पकड़ लावे। निन्दा फैलाने हारे मिथ्याचारी  
शत्रु को नष्ट झष्ट करदे कि वह पापी अपने मन के भीतरी कुविचार और  
वाहिरी कुचेष्टा और पाप कर्म छोड़दे ॥ ३ ॥

यत्रै'पामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सुतामत्रिणां  
जातवेदः । तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जुह्वै'पां  
शतुतर्है'सग्ने ॥ ४ ॥

यत्रै । एषाम् । अग्ने । जनिमानि । वेत्थ । गुहा । सुताम् ।  
अत्रिणां । जात-वेदः । तान् । त्वम् । ब्रह्मणा । ववृधानः ।  
जुहि । एषाम् । शतु-तर्हैम् । अग्ने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे अनेक विद्या वाले वा धन वाले ! (अग्ने) अग्नि  
[अग्निस्वरूप राजन्] (यत्र) जहां पर (गुहा) गुफा में (सताम्) वर्तमान  
(एषाम्) इन (अत्रिणाम्) उदर पोषकों के (जन्मानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता

हन् हिंसागत्योः—लोट् । नाशय । प्र-जाम् । जनम् । मनुष्यान् । नयस्व ।  
आनय । निः । क्षेपेण, अपचादेन । निपेधेन । स्तुवानस्य । म० २ । स्तुषतः  
शत्रोः । पातय । पत अधोगतौ—णिच् लोट् । अधोगमय, च्यावय । परम् ।  
अदोऽण् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति षृ-पालने पूर्वो न—अण् । श्लेष्ठम् । उच्चम् ।  
श्रींक्षि । अणोर्नित् । उ० ३ । १५६ । इति अशु व्याप्तौ—क्विसि । यद्वा । अन्तु व्याप्तौ—  
इत् । चक्षुः, नेत्रम् । अवरम् । अद्विष्टनिश्चिगमश्च । पा० ३ । ३ । ५८ ।  
इति न+वृष् वरणे—अण् । न चिद्यत इति । निरुष्टम्, नीचम् ॥

४-अग्ने । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् । जनिमानि । जनिमृड्भ्यामिमनिन् ।  
उ० ४ । १४६ । इति जनी प्राबुभवि-श्मनिन् । जन्मानि, उत्पत्तिकारणानि ।

है । (अग्ने) हे अग्निरूप राजन् ! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान [वा अन्न वा धन]से (वावृ-  
धानः) बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उनकी और (एषाम्) इनकी (शत-  
तर्हम्) सैकड़ों प्रकार की हिंसा को (जहि) नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्नि के समान तेजस्वी महाबली राजा गुप्त उपद्रवियों का  
खोज करे और उनको यथा नीति कड़े कड़े दण्ड देकर प्रजामें शान्ति रखे ॥४॥

सूक्तम् ८ ॥

१-४ ॥ १, २ विश्वे देवा देवताः, ३, ४ अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्  
छन्दः ११ × ४ अक्षराणि ॥

सर्वसम्पत्तिप्रयत्नोपदेशः— सद्य सम्पत्तियों के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्वन्द्रः पुषा वरुणो  
मित्रो अग्निः । इममादित्या उत विश्वे च देवा  
उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥

अस्मिन् । वसु । वसवः । धारयन्तु । इन्द्रः । पुषा । वरुणः ।  
मित्रः । अग्निः । इमम् । आदित्याः । उत । विश्वे । च । देवाः ।  
उत्तरस्मिन् । ज्योतिषि । धारयन्तु ॥ १ ॥

वेत्थ । विद ज्ञाने-लट् । त्वं जानासि । गुहा । इगुपधज्ञाप्तीकिरः कः । पा० ३ ।  
१ । १३५ । इति गुह्य संवरणे-क,टाप् च । गूहति रक्षतीति । सुपां सुलुक्० । पा०  
७ । १ । ३६ । इति विभक्तिलोपः । गुहायाम्, गच्छे, गह्वरे, गुप्तस्थाने । सताम् ।  
अस सत्तायां-शतृ । विद्यमानानाम् । निवसताम् । अत्रिणास् । १ । ७ । ३ ।  
अदनशीलानां, उदरपोषकाणाम् । जात-वेदः । १ । ७ । २ । हे जातविद्यु !  
ब्रह्मणा । वृहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति वृहि वृद्धौ-मनिन्, नकारस्य  
अकारः, रत्वं च । ब्रह्म अन्नम्-निघ० २ । ७ । तथा, धनम्-निघ० २ । १० ।  
वेदेन । वेदज्ञानेन । परमेश्वरेण । ववृधानः । वृधु वृद्धौ-लिट्ः कानच्,  
छन्दसि दीर्घः । प्रवृद्धः । जहि । म० ३ । मारय । शत- तर्हम् । शतं बहु-  
नाम—निघ० ३ । १ । तूह हिंसायाम्-घञ् । बहुविधहिंसनम् ॥



**भाषार्थ—**( वसवः ) प्राणियों के वसानेवाले वा प्रकाशमान, श्रेष्ठ देवतां [अर्थात्] ( इन्द्रः ) परमेश्वर वा सूर्य, ( पूषा ) पुष्टि करने वाली पृथिवी, ( वरुणः ) मेघ, ( मित्रः ) वायु, और ( अग्निः ) आग, ( अस्मिन् ) इस पुरुष में [ मुझ में ] ( वसु ) धनको ( धारयन्तु ) धारण करें । ( आदित्याः ) प्रकाशवाले [ बड़े विद्वान् शूरवीर पुरुष ] ( उत च ) और भी ( विश्वे ) सब ( देवाः ) व्यवहार जाननेहारे माहात्मा ( इमम् ) इसको [ मुझको ] ( उत्तरस्मिन् ) अति उत्तम ( ज्योतिषि ) ज्योति में ( धारयन्तु ) स्थापित करें ॥ १ ॥

**भावार्थ—**चतुर पुरुषार्थी मनुष्य के लिये परमेश्वर और संसार के सब पदार्थ उपकारी होते हैं । अथवा जो सूर्य, भूमि, मेघ, वायु, और अग्नि के

१—अस्मिन् । उपासके, मयि, इत्यर्थः । म० ४ । वसु । शृस्वृ स्निहि-  
त्रप्यसि० । उ० १ । १० । इति वल आच्छादने, निवासे दीप्तौ च-उप्रत्ययः ।  
निवासयितृ प्रकाशमानं वा धनम् । वसवः । पूर्ववत्, वस-उ । श्वसोवसीय-  
श्श्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । अत्र वसुशब्दः प्रशस्तवाची । प्राणिनां वासयितारः,  
प्रकाशमानाः । प्रशस्ता देवाः, इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः । धारयन्तु । घृञ् धारणे-  
चुरादिः । स्थापयन्तु । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमेश्वरः । सूर्यः । पूषा ।  
श्वन्नुक्तन्पूपन्० । उ० १ । १५६ । इति पुप पुण्टौ, पूप वृद्धौ—कनिन् प्रत्ययान्तो  
निपात्यते । पुष्यति पूपति वा वर्धते धान्यादिभिः, पोषयति वाक्त्रैः प्रजाः । पृथि-  
वीनाम-निघ० १ । १ । वरुणः । १ । ३ । ३ । वृणोति त्रियते वाऽसौ वरुणः ।  
वृष्टिजलम् । मेघः । मित्रः । १ । ३ । २ । डुमिञ् प्रक्षेपणे-क् । वायुः ।  
अहरभिमानी देवः—इति सायणः । अग्निः । १ । ६ । २ । और्वजाठरवैद्युतादि-  
रूपः प्रकाशः । वह्निः । इमम् । उपासकम्, आदित्याः । अघ्न्यादयश्च ।  
उ० ४ । ११२ । इति आङ्+डुदाञ् दाने, वा दीपी दीप्तौ-यक् । निपातितः ।  
यद्वा । दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदारण्यः । पा० ४ । १ । ८५ । इति अदिति-एय-  
प्रत्ययः, अपत्याथे । अदितिः=पृथिवी-निघ० १ । १ । वाक्-निघ० १ । ११ ।  
अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । अथास्य [आदित्यस्य] कर्म रसाक्षानं  
रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किञ्चित् प्रबलहितमादित्यकमैव तच्चन्द्रमसा  
वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः । निरु० ७ । ११ । आदातारः, अहीतारो गुणा-  
नाम् । प्रकाशमानाः । भूमिपुत्राः, देशहितैषिणः । सरस्वतीपुत्राः, विद्वांसः । सूर्य-

समान उत्तम गुण वाले और दूसरे शर वीर विद्वान् लोग ( आदित्याः ) जो विद्या के लिये और धरती अर्थात् सब जीवों के लिये पुत्र समान सेवा करते हैं, और जो सूर्य के समान उत्तम गुणों से प्रकाशमान हैं, वे सब नरभूषण पुरुषार्थी मनुष्य के सदा सहायक और शुभचिन्तक रहते हैं ॥ १ ॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा  
हिरण्यम् । सपत्ना अस्मद्धरे भवन्तूत्तमं नाकमधि  
रोहये मम् ॥ २ ॥

अस्य । देवाः । प्र-दिशि । ज्योतिः । अस्तु । सूर्यः । अग्निः ।  
उत । वा । हिरण्यम् । स-पत्नाः । अस्मत् । अधरे । भवन्तु ।  
उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहयु । इमम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे व्यवहार जाननेहारे महात्माओ ! ( अस्य ) इसके [ मेरे ] ( प्रदिशि ) शासन में ( ज्योतिः ) तेज, [ अर्थात् ] ( सूर्यः ) सूर्य, ( अग्निः ) अग्नि, ( उत वा ) और भी ( हिरण्यम् ) सुवर्ण ( अस्तु ) होवे । ( सपत्नाः ) सब वैरी ( अस्मत् ) हम से ( अधरे ) नीचे ( भवन्तु ) रहें । ( उत्तमम् ) अति ऊंचे ( नाकम् ) सुख में ( एनम् ) इसको [ मुझ को ] ( अधि ) ऊपर ( रोहय=०-यत ) तुम चढ़ाओ ॥ २ ॥

वत् तेजस्विनः । देवाः । १ । ४ । ३ । दिव्य व्यवहारे-अच् । व्यवहारिणः । प्रकाशमानाः । उत्-तरस्मिन् । उत्कृष्टे । ज्योतिषि । द्युतेरिसिन्नादेश्च जः । उ० २ । ११० । इति द्युत दीप्तौ-इसिन्, दस्य जः । तेजसि, प्रकाशे । धारयन्तु । स्थापयन्तु ॥

२—अस्य । उपासकस्य । देवाः । म० १ । हे प्रकाशमया व्यवहारिणो वा । प्रदिशि । सम्पदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ६४ । प्रपूर्वात् दिश दाने, आज्ञापने—क्विप् । प्रदेशने, शासने, आज्ञायाम् । ज्योतिः । म० १ । तेजः, प्रकाशः । सूर्यः । १ । ३ । ५ । सरणशीलः, प्रेरकः । ग्रहविशेषः । अग्निः ।

भावार्थ—प्रकाश वाले, सूर्य, अग्नि की और सुवर्ण आदि की विद्यायें, अथवा सूर्य, अग्नि और सुवर्ण के समान प्रकाश वाले लोग, पुरुषार्थी मनुष्य के अधिकार में रहें और वह यथायोग्य शासन करके सर्वोत्तम सुख भोगे ॥ २ ॥

येनेन्द्राय सुमभरः पर्यास्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।  
तेन त्वमग्न इह वर्ध येमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ  
धेह्येनम् ॥ ३ ॥

येन । इन्द्राय । सुम्-अभरः । पर्यासि । उत्-तमेन । ब्रह्मणा ।  
जात-वेदः । तेन । त्वम् । अग्ने । इह । वर्धय । इमम् ।  
स-जातानाम् । श्रैष्ठ्ये । आ । धेहि । एनम् ॥ ३ ॥

म० १ । दावानलजाठरवैद्युतादिरूपः पावकः । हिरण्यम् । हर्यतिः कान्ति-  
कर्मा-निघ० २ । ६ । हर्यतिः कन्यन् हिर च । उ० ४ । ४४ । इति हर्यं गतिफ्रान्त्योः-  
कन्यन् । हिरादेशः । हर्यते काम्यते तत् । यद्वा, हृञ् हरणे-कन्यन् हिरच । हिर्यते  
जनाञ्जनं व्यवहारार्थम्, अथवा द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रास्य स्थितिः । हिरण्य-  
नामसु-निघ० १ । २ । हर्यतेः प्रेप्साकर्मणः—निरु० २ । १० । सुवर्णम् । तेजः ।  
स-पत्नाः । सह+पत् पतने पेश्ये च-न प्रत्ययः, सहस्य सः । सह पतन्ति  
यतन्ते एकार्थे, यद्वा, सह पत्यन्ते ईश्वरा भवन्ति । सह पतित्ववन्तः । शत्रवः ।  
अधरे । न+धृञ्-अच्, नञ्समासः, न ध्रियतेऽसौ । नीचाः, हीनाः, अप-  
कृष्टाः । उत्-तमम् । उत्+तमप्, अतिशयेन उत्कृष्टम् । यद्वा, उत्+तमु  
इच्छायाम्-अच् । भद्रम्, उत्कृष्टम् । नाकम् । कं सुखम् अकं दुःखम्,  
तन्नास्त्यत्रेति नाकः । नभ्राण्णपान्नवेदानासत्या० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति  
नञः प्रकृतिभावः । अथवा पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । इति णी प्रापणे-आकं-  
प्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽथ द्यौः  
कमिति सुम्ननाम तत्प्रतिपिद्धं प्रतिपिध्यते—निरु० २ । १४ । स्वर्गम् । सुखम् ।  
आकाशम् । आदित्यलोकम् । अधि । उपरि । रोहय । रुह नन्मनि, प्राहु-  
भवि-णिच्-लोट् । एक वचनं बहुवचनं । उन्नयत यूयम् । इमम् । उपासकम् ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे विज्ञानयुक्त, परमेश्वर ! तूने (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद विज्ञान से (इन्द्राय) पुरुषार्थी जीव के लिये (पर्यांसि) दुग्धादि रसों को (समभरः) भरकरा है। (तेन) उसी से (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इह) यहाँ पर (इमम्) इसे (मुझे) (वर्धय) वृद्धि युक्त कर, (सजातानाम्) तुल्य जन्म वाले पुरुषों में (श्रेष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद पर (एनम्) इसको [मुझ को] (आ) यथा विधि (धेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर पुरुषार्थियों को सदा पुष्ट और आनन्दित करता है। मनुष्य को प्रयत्न करके अपनी श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिये ॥३॥  
(अग्नि) शब्द ईश्वरवाची है. इस में यह प्रमाण है—मनु १२। १२३।

एतमेके वदन्त्यग्निसनुमन्ये प्रजापतिम्

इन्द्रमेके ऽपरे प्राणसपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १ ॥

इसको कोई अग्नि, दूसरे मनु, और प्रजापति, कोई इन्द्र, दूसरे प्राण और नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥

३—येन । ब्रह्मणा । इन्द्राय । १ । २ । ३ । जीवाय, पुरुषार्थिने जीवाय ।  
सम—अभरः । डुभृञ् भरणे, पोपणे—लडि सिप् । सम्यग् भृतवानसि पोपित्त-  
वानसि । पर्यांसि । १ । ४ । १ । दुग्धानि, दुग्धघृतादिपदार्थान् । उत्-तमेन ।  
म० २ । अतिश्रेष्ठेन । ब्रह्मणा । १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । जात-वेदः । १ । ७ ।  
२ । हे जातप्रज्ञान, परमेश्वर । तेन । ब्रह्मणा । अग्ने । हे ज्ञानस्वरूप पर-  
मेश्वर । इह । अत्र, अस्मिन् जन्मनि । वर्धय । वृधु-णिच् । समर्धय ।  
इमम् । उपासकं, माम् । स-जातानाम् । समान + जनी प्रादुर्भावे-क्त । जन-  
सनखनां सन्भूतोः । पा० ६ । ४ । ४२ । इति आत्वम् । समानस्य इन्द्रस्य-  
मूर्धं० । पा० ६ । ३ । ८४ । इति समासे समानस्य सभावः । समानजन्मनां  
स्वकुटुम्बिनां मध्ये । श्रेष्ठ्ये । गुणवचनब्रह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ ।  
१ । १२४ । इति श्रेष्ठ-ष्यञ् । श्रेष्ठत्वे, प्रधानत्वे । आ । समन्तात्-यथाविधि ।  
धेहि । डुधाञ् धारणपोषणयोः—तोट् । धारय, स्थापय । एनम् । उपास -  
कम् ॥

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्ता-  
न्यग्ने । सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि  
रोहयेमम् ॥ ४ ॥

आ । एषाम् । यज्ञम् । उत । वर्चः । ददे । अहम् । रायः ।  
पोषम् । उत । चित्तानि । अग्ने । स-पत्नाः । अस्मत् । अधरे ।  
भवन्तु । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (एषाम्) इन के [अपने लोगों] के दिये  
(यज्ञम्) सत्कार, (उत) और (वर्चः) तेज, (रायः) धन की (पोषम्) बढ़ती  
(उत) और (चित्तानि) मानसिक बलों को (अहम्) मैं (आददे) ग्रहण करता  
हूँ । (सपत्नाः) वैरी लोग (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) हों, (उत्त-  
मम्) अति ऊँचे (नाकम्) सुख में (एनम्) इसको [मुझे] (अधि) ऊपर  
(रोहय) बढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् नीति निपुण पुरुष अपने पक्षवालों के किये हुये  
उपकार, और सत्कार को सधन्यवाद स्वीकार करे और विपक्षियों को नीचा  
दिखा कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध मन्त्र २ का उत्तरार्ध है ॥

४—एषाम् । स्वपुरुषाणाम् । यज्ञम् । यजयाचयतविच्छप्रच्छरत्तो नङ् । पा०  
३ । ३ । ६० । इति यज देवार्चादानसङ्गतिकरणेषु-नङ् । पूजाम्, कीर्तिम् ।  
वर्चः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति वर्च दीप्तौ—असुन् । निस्त्वात्  
आद्युदात्तः । वर्चः; अन्ननाम-निघ० २ । ७ । रूपम् । तेजः । आ—ददे । आङ्  
पूर्वात् डुदाञ् ग्रहणे-लट् । अहं गृह्णामि, स्वीकरोमि । रायः । रातेडैः ।  
उ० २ । ६६ । इति रा दाने डै प्रत्ययः, रै । धनस्य । पोषम् । पुष पुष्टौ—घञ् ।  
पोषणं वर्धनं समृद्धिम् । रायस्पोषम् । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ ।  
इति विसर्गस्य सः । चित्तानि । चित्त ज्ञाने—क्त । मनांसि, नामसवत्वानि । अग्ने  
म० ३ । हे परमेश्वर । सपत्ना.....इमम् । व्याख्यातम् २ ॥

सूक्तम् ॥ १० ॥

१—४ ॥ वरुणो देवता । १, २ त्रिष्टुप् ३, ४ अनुष्टुप् ।

वरुणस्य क्रोधः प्रचण्डः—वरुण का क्रोध प्रचण्ड है ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या  
वरुणस्य राज्ञः । तत्परि ब्रह्मणा शाशदान  
उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

अयम् । देवानाम् । असुरः । वि । राजति । वशा । हि ।  
सत्या । वरुणस्य । राज्ञः । ततः । परि । ब्रह्मणा । शाशदानः ।  
उग्रस्य । मन्योः । उत् । इमम् । नयामि ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवानाम्) विजयी महात्माओं का (असुरः) प्राणदाता [वा प्रज्ञावान् वा प्राणवान्] परमेश्वर (विराजति) बड़ा राजा है, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् अति श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा परमेश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य ( हि ) ही है । (ततः) इस लिये ( ब्रह्मणा ) वेद ज्ञान से ( परि ) सर्वथा (शाशदानः) तीक्ष्ण होता हुआ मैं (उग्रस्य) प्रचंड परमेश्वर के (मन्योः) क्रोधसे (इमम्) इस को [अपने को] (उत् नयामि) छुड़ाता हूँ ॥ १ ॥

१—अयम्, पुरोवर्ती । देवानाम् । १ । ४ । ३ । दिव्यगुणवतां विदुषाम् ।  
असुरः । असेरुम् । उ० १ । ४२ । इति असु क्षेपे—उरन् । जित्वादिर्नित्यम् ।  
पा० ६ । १ । १६७ । इति नित्वाद् आयुदात्तः ॥ अस्यति शत्रून् । यद्वा, अस गति-  
दीप्त्यादानेषु—उरन् । असति गच्छति व्याप्नोति सर्वत्र, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते  
वा साधून् । यद्वा । असुं प्राणं राति ददातीति, असु + रा दानादानयोः—क ।  
मेघनाम—निघ० १ । १० । असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापिवासु रितिप्रज्ञानामा-  
स्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था वसुरत्वमादिलुप्तम्—निरु० १० । ३४ । क्षेप्ता । शूरः ।  
व्यापकः । दीप्यामानः । प्रहीता । प्राणदाता । प्रज्ञावान् । यद्वा, मेघवद् उदारः ।  
वरुणविशेषणमेतत् । वि । विशेषेण । राजति । राजृ दीप्तौ । दीप्यते, ईष्टे  
ईश्वरी भवति—निघ० २ । २१ । वशा । वशस्पृहि—अप्, टाप् । इच्छा, स्पृहा ।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के क्रोध से डर कर मनुष्य पाप न करें और सदा उसे प्रसन्न रखें ॥ १ ॥

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्यग्र  
निचिकेषि द्रुग्धम् । सहस्रमन्यान् प्रसुवामि साकं  
शतं जीवाति शरदुस्तवायम् ॥ २ ॥

नमः । ते । राजन् । वरुण । अस्तु । मन्यवे । विश्वम् । हि ।  
उग्र । नि-चिकेषि । द्रुग्धम् । सहस्रम् । अन्यान् । प्र । सुवामि ।  
साकम् । शतम् । जीवाति । शरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

भावार्थ—( वरुण ) हे अतिश्रेष्ठ ( राजन् ) बड़े ऐश्वर्य वाले, राजा,  
( ते ) तुम ( मन्यवे ) क्रोधरूप को ( नमः ) नमस्कार ( अस्तु ) होवे, ( उग्र )  
हे प्रचंड ! तू ( विश्वम् ) सब ( हि ) ही ( द्रुग्धम् ) द्रोह को ( नि-चिकेषि )  
सदा जानता है । [मैं] ( सहस्रम् ) सहस्र ( अन्यान् ) दूसरे जीवों को ( साकम् )

हि । अवश्यम् । यस्मात् । सत्या । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति  
सन् + यत् । टाप् । सद्ग्रयो हिता, अघितथा । वरुणस्य । १ । ३ । ३ । मियते  
स्वीक्रियते स वरुणः । अतिश्रेष्ठस्य । परमेश्वरस्य । राज्ञः । राजति,  
ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति  
राजृ दीप्ती-ऐश्वर्ये च-कनिन् । स्वामिनः, अधिपतेः, ईश्वरस्य । ब्रह्मणा ।  
१ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । शाशदानः । शद्ल शतने यङ्लुगन्ताद् छन्दसि  
शानच् । शाशद्यमानः—निरु० ६ । १६ । अत्यर्थं तीक्ष्णः । विजयी । उग्रस्य ।  
ऋजून्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति उच्च समवाये-रक् । उच्यति क्रुधा सम्बध्यते ।  
उत्कटस्य, प्रचण्डस्य । मन्योः । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ०  
३ । २० । इति मन घ्राने गर्धे, धृती च-भावे कर्तरि वा-युच् । मन्युर्मन्यतेदीप्ति-  
कर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २६ । क्रोधात् । उत् + नयामि ।  
उपसर्गस्य व्यवधानम् । ऊर्ध्वं गमयामि, मोक्षयामीत्यर्थः ॥

२— राजन् । म० १ । हे ऐश्वर्यवान् । वरुण । म० १ । हे परमेश्वर ।  
मन्यवे । म० १ । क्रोधाय, क्रोधरूपाय । नि-चिकेषि । कि घ्राने—लट्,

एक साथ ( प्रसुवामि ) आगे बढ़ाता हूं, ( ते ) तेरा ( अयम् ) यह [ सेवक ]  
( शतम् ) सौ ( शरदः ) शरद् ऋतुओं तक ( जीवाति ) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ परमेश्वर के महा क्रोध से भय मानकर मनुष्य पातकों  
से बचें और सब के साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।

राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणाद्ब्रह्म ॥ ३ ॥

यत् । उवक्थ । अनृतम् । जिह्वया । वृजिनम् । बहु ।

राज्ञः । त्वा । सत्य-धर्मणः । मुञ्चामि । वरुणात् । ब्रह्म ॥ ३ ॥

भावार्थ—[हे आत्मा !] ( यत् ) जो ( बहु ) बहुत सा ( अनृतम् ) असत्य  
और ( वृजिनम् ) पाप ( जिह्वया ) जिह्वा से ( उवक्थ ) तू बोलता है । ( ब्रह्म )  
मैं ( त्वा ) तुझ को ( सत्यधर्मणः ) सच्चे धर्मात्मा वा न्यायी, ( वरुणात् ) सब  
में श्रेष्ठ परमेश्वर ( राज्ञः ) राजा से ( मुञ्चामि ) छुड़ाता हूं ॥ ३ ॥

जुहोत्यादिः, शपः श्लुः । त्वं नितरां जानासि । द्रुग्धम् । द्रुह जिघांसायाम्-  
भावे-क्त । द्रोहम्, अपराधम् । सहस्रम् । सहो चलमस्त्यस्मिन्, सहस्+  
प्रत्ययो मत्वर्थे । बहुनाम, निघ० ३ । १ । वहन्, अनेकान् । अन्यान् ।  
माच्छाशासिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति अन प्राणने, जीवने—य प्रत्ययः ।  
अनिति जीवतीति अन्यः । जीवान्, प्राणिनः । इतरान् वा । प्र+सुवामि ।  
षूङ् प्रेरणे, तुदादिः, डित्वाद् गुणप्रतिषेधे उवङ् । प्रकर्षेण प्रेरयामि, ऊर्ध्वं  
नयामि, उपकरोमि । साकम् । इणर्भाकापा० । उ० ३।४३ । इति पो अन्तकर्मणि-  
कन् । सह,सगम् । शतम् । बहुनाम, निघ० ३ । २ । बहीः । जीवाति । जीव  
प्राणधारणे—लेट्, लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति आडागमः । जीवेत् ।  
शरदः । श्रुद् भसोऽदिः । उ० १ । १३० । इति शृ हिंसायाम्—अदि । काला-  
ध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । आश्विनकार्तिक-मास-  
युक्तान् ऋतुविशेषान् । संवत्सरान् ॥

३—यत् । वचनम् । उवक्थ । ब्रूव्यक्तायां वाचि—लिट्, त्वम् उक्-  
वानसि । अनृतम् । न ऋतम् । असत्यं । मिथ्याभाषणम् । जिह्वया ।



भावार्थ—जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी होकर उस प्रभु की शरण लेते और सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे लोग उस जगदीश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार दुःख पाश से छूटकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

मुञ्चामिं त्वा वैश्वानुरादृणुं वान्महत्स्परि ।

सज्जातानुग्रहे वा वदु ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥ ४ ॥

मुञ्चामि । त्वा । वैश्वानुरात् । अर्णुवात् । महत् । परि ।  
स-जातान् । उग्र । इह । आ । वदु । ब्रह्म । च । अप ।  
चिकीहि । नः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[ हेआत्मा ! ] (महत्) विशाल (अर्णुवात्) समुद्र के समान गंभीर (वैश्वानुरात्) सब नरों के हित कारक वा सब के नायक परमेश्वर से (त्वा) तुझ को (परि मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ । (उग्र) हे प्रचण्ड स्वभाव [ परमेश्वर ! ] (सज्जातान्) [ मेरे ] तुल्य जन्म वालों को (इह) इस धिष्य में (आवद) उपदेश कर (च) और (नः) हमारे (ब्रह्म) वैदिक ज्ञान को (अप) आनन्द से (चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

शेवायहजिदायीवाऽप्वामीवाः । उ० । १ । १५४ । इति जि जये—वन्, हुक् आ-  
गमे निपातितः । जयति रसनया । रसनया । वृजिनम् । वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ ।  
इति वृजी वर्जने—इन्च्, स च कित् । पापम् । बहु । अधिकम् । राज्ञः । म० १ । अभ्य-  
क्षात् । त्वा । त्वाम् । सेवकम्, आत्मानम् । सत्य-धर्मणः । धर्मादनिच् केवलात् ।  
पा० ५ । ४ । १२४ । इति सत्य + धर्म + अनिच्, बहुव्रीहौ । यथार्थन्यायस्वभावात्  
मुञ्चामि । मुञ्च मोक्षे-लट् । मोचयामि, वियोजयामि । वरुणात् । म० १ ।  
धेष्ठात्-परमेश्वरात् । अहम् । उपासकः ॥

४—परि+मुञ्चामि । म० ३ । सर्वथा मोचयामि । वैश्वानुरात् ।  
नृ प्रापणे-अच् । नृणातीति नरः पुरुषः । विश्वश्चासौ नरश्चेति । नरे संज्ञायाम्  
प० ६ । ३ । १२६ । इति विश्वस्य दीर्घः । विश्वानर एव वैश्वानरः । स्वार्थे अण् ।  
यद्वा । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । यद्वा । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति

भावार्थ—मनुष्य पापकर्म छोड़ने से सर्व हितकारी परमेश्वर के कोप से मुक्त होते हैं। परमात्मा सब प्राणियों को उपदेश करता और सब की सत्य भक्ति को स्वीकार कर यथार्थ आनन्द देता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१—६ ॥ पूषा देवता ! १ विराट् स्थाना त्रिष्टुप् ८ + १० + ८ + ११ = ३८, २, ३ अनुष्टुप् ८ × ४, ४-६ पंक्तिः ८ × ५ ॥

सृष्टि विद्या वर्णनम्—सृष्टि विद्या का वर्णन ॥

वषट् ते पूषन् स्मिन्सूतावर्यमा होता कृणोतु  
वेधाः । सिस्वतां नार्युतप्रजाता वि पर्वाणि  
जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥

वषट् । ते । पूषन् । अस्मिन् । सूतौ । अर्यमा । होता ।  
कृणोतु । वेधाः । सिस्वताम् । नारी । अत-प्रजाता । वि ।  
पर्वाणि । जिहताम् । सूतवै । ज इति ॥ १ ॥

अण् । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि  
वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः—निरु०७ । १२ ।  
सर्वनायकात् । सर्वोपास्यात् । सर्वनरहितात् परमेश्वरात् । अर्णवात् ।  
केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०६ । अत्र । अर्णसोलापश्च । इति वार्त्तिकम् ।  
अर्णस् + व, सलोपः । अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन् । समुद्रात् । समुद्र-  
वर्ह गम्भीरस्वभावात् । महतः । वर्तमाने पृषट् वृहन् महज्जगच्छ्रुत वश । उ०  
२ । २४ । इति मह पूजायाम्—अति । वडात् । विशालात् । सजातान् । समान-  
जन्मनः पुरुषान् । उग्र । म० १ । हे प्रचण्ड, महाक्रोधिन् वरुण ! आ + वद ।  
समन्तात् कथय, उपदिश । ब्रह्म । १ । २ । ४ । वेदविज्ञानम् । अप ।  
आनन्दे — इति शब्दस्तोममहानिधौ । चिकीर्हि । म० २ । किं ज्ञानं—लोट ।  
जानीहि ॥

**भाषार्थ—**(पूषन्) हे सर्वपोषक, परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (वषट्) यह आहुति [भक्ति] है । (अस्मिन्) इस समय पर (सूतौ) सन्तान के जन्म को (अर्यमा) न्यायकारी, (होता) दाता, (वेधाः) सब का रचने वाला ईश्वर (कृणोतु) करे । (ऋतप्रजाता) पूरे गर्भवती (नारी)नरका हित करने हारी स्त्री (सितस्राम्) सावधान रहे, (पर्वाणि) इस के सब अङ्ग (उ) भी (सूतवै) सन्तान उत्पन्न करने के लिये (विजिहाताम्) कोमल होजावे ॥ १ ॥

**भावार्थ—**प्रसव समय होने पर पति आदि विद्वान् लोग परमेश्वर की भक्ति के साथ हवनादि कर्म प्रसूता स्त्री की प्रसन्नता के लिये करें और वह स्त्री सावधान होकर श्वास प्रश्वास आदि द्वारा अपने अंगों को कोमल रखे जिस से बालक सुख पूर्वक उत्पन्न होवे ॥ १ ॥

१—वषट् । वह प्रापणे—डषट् । इति शब्दस्ताममहानिधौ । आहुतिः, हविर्दानम् । भक्तिः । स्वाहा । पूषन् । १ । ६ । १ । पुष्पातीति पूषा । हेसर्वपोषक, परमेश्वर । अस्मिन् । अस्मिन् काले, इदानीम् । सूतौ । षड् प्राणिप्रसवेक्तिन् । सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । वार्तिकम्, पा० ७ । १ । ३६ । इति द्वितीयार्थे सप्तमी । प्रसवकर्म, जन्म । अर्यमा । ऋ गतौ-यत् । अर्यः श्रेष्ठः । श्वनुत्तन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति अर्य + मा माने-कनिन् । अर्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति । यथार्थज्ञाता, न्यायकारी होता । नस्तृनेष्ट्वष्ट हो-त्रिति । उ० २ । ६६ । इति हु दानादानादनेषु । यद्वा हेञ् आह्वाने-तृन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । दाता । होमकर्त्ता, ऋत्विक्, आह्वाना । कृणोतु । कृवि हिंसाकरणयोः-लोट् । भवान् पूषा उपकरोतु । वेधाः । विधाञो वेधश्च । उ० ४ । २२५ । वि + धाञ् धारणपोषणदानेषु—असि, वेधादेशः । विशेषेण दधातीति । ब्रह्मा, चतुर्वेदवेत्ता । मेधावी-निघ० ३ । १५ । विधाता, रचयिता । सितस्राम् । सृ गतौ - लोट्, आत्मनेपदम् जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । अभ्यासस्य इत्वम् पुनरपि विकारणः शः । गच्छतु, सावधाना सुखप्रसूता वा भवतु । नारी । ऋतो ऽञ् । पा० ४ । ४ । ४६ । इति नृ नीतौ-अञ् । नृणा-ति नयतीति नरः । नराच्चेति वक्तव्यम् । तत्र वार्तिकम् । नर-अञ् । शार्ङ्ग रवा-द्यञो ङीन् । पा० ४ । १ । ७३ । इति ङीन् । नुर्नरस्य वा धर्म्या । नर धर्माचार-युक्ता । स्त्री, वधूः । ऋत-प्रजाता । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ ।

टिप्पणी—इस सूक्त में माता से सन्तान उत्पन्न होने का उदाहरण देकर बताया गया है कि मनुष्य सृष्टि विद्या के ज्ञान से ईश्वर की अनन्त महिमा का विचार करके परस्पर उपकारी बनें ॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।

देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥ २ ॥

चतस्रः । दिवः । प्र-दिशः । चतस्रः । भूम्याः । उत । देवाः ।  
गर्भम् । सम् । ऐरयन् । तम् । वि । ऊर्णुवन्तु । सूतवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दिवः, आकाश की (चतस्रः) चारों (उत) और (भूम्याः) भूमि की (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुण वाले [अग्नि वायु आदि] देवताओं ने (गर्भम्) गर्भ को (समैरयन्) संगत किया है, वे सब (तम्) उस गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) प्रस्तुत करें ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के यथार्थ संयोग से ईश्वरीय नियम के अनुसार यह गर्भ स्थिर हुआ है मनुष्य उन तत्त्वों की अनुकूलता को, माता और गर्भ में, स्थिर रखने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें जिससे बालक बलवान् और नीरोग होकर पूरे समय पर उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

इति ऋत+प्रजात-अच्, टाप् । ऋतं सत्यं प्रजातं प्रजननमस्त्यस्याः । सत्य-प्रसवा, उचितसमयप्रसूता, जीवदपत्या । पर्वणि । पर्व गतौ-कनिन् । यद्वा स्नामदिपद्यर्त्तिपृशक्तिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पृ पूर्यो पालने च-वनिप् । शरीरग्रन्थयः, देहसन्धयः । वि+जिहताम् । ओहाट् गतौ-लोट् बहुवचनम्, जहोत्यादिः । विशेषेण गच्छन्तु कोमलानि सुखप्रसवयोग्यानि भवन्तु । सूतवै । तुमर्थे सेसेन्० । पा० ३ । ४ । ६ । इति पूङ् प्राणिगर्भविमोचने तवै प्रत्ययः । प्रसवार्थम् ॥

२—चतस्रः । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिस्टचतस्ट । पा० ७ । २ । ६६ । इति चतु-शब्दस्य जसि चतस्रादेशः । अचिर ऋतः । पा० ७ । २ । ६०० । इति रेफादेशः । चतुःसंख्याकाः । दिवः । १ । ११ । २ । आकाशस्य । प्र-दिशः ।

टिप्पणी—देव वा देवता का अर्थ दिव्य वा अच्छे गुण वाला है । यजुर्वेद १४ । २० में यह देवता कहे हैं ।

अग्निर्देवता । वातो देवता । सूर्यो देवता । चन्द्रमा देवता ।  
वसवो देवता । रुद्रो देवता । आदित्या देवता । मरुतो  
देवता । विश्वे देवा देवता । बृहस्पतिर्देवता । इन्द्रो  
देवता । वरुणो देवता ॥

अग्नि १, वायु २, सूर्य ३, चन्द्रमा ४, सबके बसाने वाले अग्नादि पदार्थ ५, दुःख दूर करने वाले जीव वा पदार्थ ६, प्रकाश करने वाले पदार्थ अथवा अदिति, विद्या वा पृथिवी के पुत्र के समान सेवा करने वाले पुरुष ७, दुष्टों के मारने वाले शूर वीर पुरुष ८, सब अच्छे गुण वाले विद्वान् ९, बड़े वेद बचनों वा ग्रन्थाण्डों का रक्षक परमेश्वर १०, ऐश्वर्य वा धन ११, और जल १२; यह सब (देवता) उत्तम गुण वाले हैं ॥

सुपा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।

अथया सूपणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥ ३ ॥

सुपा । वि । ऊर्णोतु । वि । योनिम् । हापयामसि ।

अथया । सूपणे । त्वम् । अव । विष्कले । सृज ॥ ३ ॥

१ । ६ । २ । प्रकृष्टा दिशः । प्राच्याद्याः प्रधानदिशः । भूम्याः । भुवः कित् ।  
उ० ४ । ४५ । इति भू सत्तायां-मि । कृदिकारादक्तिनः । इति पक्षे ङीप् । पृथि-  
व्याः, भूलोकस्य । देवाः । १ । ४ । ३ । दिव्यपदार्था अग्न्यादयः । विद्वांसश्च ।  
गर्भम् । अर्त्तिगृभ्यां भन् । उ० ४ । १५२ । इति गृ विज्ञापने, निगरणे च  
भन् । गीर्यते जीयसंचितकर्मफलदात्रा ईश्वरेण प्रकृतिबलात् जठरगह्वरे  
स्थाप्यते पुरुषशक्ययोगेण स गर्भः । भ्रूणम्, उदरस्थसन्तानम् । सम् । सम्यक्,  
यथाविधि । ऐरयन् । ईर गतौ लङ् । संगतमकुर्वन् । वि+ऊर्णुवन्तु ।  
ऊर्णुम् आच्छादने-लोट् । विवृतं प्रस्तुतं कुर्वन्तु । सूतवे । तुमर्थे सेसेन से० ।  
पा० ३ । ४ । ६ । इति पूङ् प्राणिगर्भविमोचने-तवेन् । निश्चात् आदधु दात्तः ।  
प्रसवितुम् ॥

भाषार्थ—(सूपा) सन्तान उत्पन्न करने वाली माता ( व्यर्णोत्तु ) अर्द्धों को कोमल करे ( योनिम् ) प्रसूनिका गृह को ( विहापयामसि ) दम प्रस्तुत करते हैं । ( सूषणे ) हे जन्म देने वाली माता ! ( त्वम् ) तू ( अथय ) प्रसन्न हो । ( विष्कले ) हे वीर स्त्री ! ( त्वम् ) तू (अव सृज) [ बालक को ] उत्पन्न करा ॥३॥

भावार्थ—गर्भ के पूरे दिनों में गर्भिणी की शारीरिक और मानसिक अवस्था को विशेष ध्यान से स्वस्थ रखें । माता के प्रसन्न और सुखी रहने से बालक भी प्रसन्न और सुखी होता है । प्रसूतिका गृह भी पहिले से देश, काल विचार कर प्रस्तुत रखें कि प्रसूता स्त्री और बालक भले प्रकार स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट रहें ॥ ३ ॥

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम् ।

अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जुरायवत्त वेऽवजुरायु

पद्यताम् ॥ ४ ॥

न-इव । मांसे । न । पीवसि । न-इव । मज्ज-सु । आ-हतम् ।  
अव । एतु । पृश्नि । शेवलम् । शुने । जुरायु । अत्तवे । अव ।  
जुरायु । पद्य ताम् ॥ ४ ॥

३—सूपा । सूपति प्रसवतीति । पूष, सूष वा प्रसवे-अच्, टाप् । सचित्री जननी, माता । वि+जर्णोत्तु । म० १ । अर्द्धानि प्रस्तुतानि करोतु । योनिम् । वहिश्चिभ्रुयुद्गुलाहात्वरिभ्यो नित् । उ० ४ । ५१ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-नि । योनिर्गृहनाम-निघ० ३ । ४ । गृहम् । प्रसूतिकागृहम् । वि+हापयामसि । ओ हाङ् गतौ—शिच् । अर्त्तिही० ! पा० ७ । ३ । ३६ । इति पुगागमः । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इकारः । विहापयामः । विशेषेण गमयामः । प्रस्तुतं कुर्मः । अथय । अथ यत्ने प्रहर्षे च, चुरादिः । यतस्व । हृष्टा भव । सूषणे । संपदादिभ्यः क्तिप् । वा० पा० ३ । ३ । ६४ । इति पूङ् प्रसवे-क्तिप् । सूः सवनम्, उत्पत्तिः । छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । ३ । २७ इति सू+पण दाने-इन् । सुवं सनोति ददातीति सूषणिः । तत्सम्बोधनम् । हे प्रसवस्य दात्रि कारिणि । विष्कले । कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । इति विष्क हिंसायां दर्शने च कल प्रत्ययः । टाप् । हे वीरे, शूरे । दर्शनीये । अव+सृज । उपसर्गस्य व्यवधानम् । सृज विसर्गे । गर्भं बालकम् उत्पादय ॥

भाषार्थ—[चह जरायु] (नेव) न तो (मांसे) मांस में (न) न (पीवसि) शरीर की मुटाई में (नेव) और न (मजसु) हड्डियों की मीगं में (आहतम्) बंधी हुआ है। (पृश्नि) पतली (शेवलम्) सेवार घास के समान (जरायु) जेली वा भिल्ली (शुने) कुत्ते के लिये (अत्तवे) खाने को (अव) नीचे (एतु) आवे; (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिरजावे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जरायु एक भिल्ली होती है जिसे जेली वा जैरी कहते हैं और जिस में बालक गर्भ के भीतर लिपटा रहता है; कुछ उस में से बालक के साथ निकल आती है और कुछ पीछे। यह जरायु बालक उत्पन्न होने पर नाभि आवि के बन्धन से छुट जाती है और साररहित होकर माता के उदर में ऐसे फिर-तो है जैसे सेवार नाम घास जलाशय में। शरीर में उसके रह जाने से रोग हो जाता है। इस से उस जरायु का उदर से निकल जाना आवश्यक है जिस से प्रसूता नारीरोग होकर सुम्बी रहे ॥ ४ ॥

५—न-इव । इव अवधाने । नैव । मांसे । मने दीर्घश्च । उ० ३ । ६४  
इति मन ज्ञाने धृतौ च सप्रत्ययः, दीर्घश्च । रक्तजधातुविशेषे । न । निषेधे ।  
पीवसि । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति पीव स्थौल्ये-असुन् । जिनत्या-  
दिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति नित्वाद् आद्युदात्तः । स्थूलत्वे । मज्जसु ।  
श्वनुक्षन् पूपन्० । उ० १ । १५६ । इति मसुज्ज जलान्तः प्रवेशे-कनिन्, निपात्यते-  
च । अस्थिमध्यस्थस्नेहेषु । आ-हतम् । आङ्+हन अघे गतौ च-क्त ।  
संयद्गम् । अव । अवाक्, अधस्तात् । एतु । गच्छतु, पततु । पृश्नि । घृणि-  
पृशनीनि । उ० ४ । ५२ । इति स्पृश् स्पृशं-नि, संलोपः । खल्पम् । शेवलम् ।  
शीङो धुक्लक् बलभ् बालनः । उ० ४ । ३८ । इति शीङ् शयने-बालन्, ह्रस्वौ  
वा । नित्वाद् आद्युदात्तः । जलस्थोपरिस्थतृणविशेषः, शेवालं शैबलंवा ।  
तद्धत् जननीजठरे स्थितं जरायु । शुने । श्वनुक्षन्पूपन् । उ० १ । १५६ ।  
इति श्वि गतौ-कनिन् । कुक्कुगय । जरायु । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति  
जरा + इण् गतौ-जुण् । गर्भवेष्टनचर्म । उल्वम् । मांसपिण्डश्च यः प्रजननानन्तरं  
निःसर्गति । अत्तवे । तुमर्थं संसेन्० । पा० ३।४।६ । इति अद भक्षणो-तवेन्  
प्रत्ययः । भक्षितुम् । पद्यताम् । पद गतौ दिवादित्वात् श्यन् । नित्यवीप्सयोः ।  
पा० ८ । १ । ४ । इति नित्यतायां पुनः कथनम् गच्छतु, पततु ॥

वि ते' भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि ग्वनिके ।  
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु'  
पद्यताम् ॥ ५ ॥

वि । ते । भिनद्मि । मेहनम् । वि । योनिस् । वि । ग्वीनि'के  
इति । वि । मातरम् । च । पुत्रम् । च । कुमारम् । जरायु'णा ।  
अथ' । जरायु' । पद्यताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) गर्भ मार्ग को (वि) विशेष करके और (यो-  
निम्) गर्भाशय को (वि) विशेष करके और (ग्वीनिके) पार्श्वस्थ दोनों नाड़ियों  
को (वि) विशेष करके (भिनद्मि) [मलसे] अलग करती हूं (च) और (मातरम्)  
माता को (च) और (कुमारम्) क्रीड़ा करने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (जरायुणा)  
जरायु से (वि वि) अलग २ [करती हूं], (जरायु) जरायु (अथ) नीचे  
(पद्यताम्) गिर जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में धात्रेयी [धात्री] अपने कर्म का वर्णन करके प्रसूता  
को उत्साहित करती है, अर्थात् धायी बड़ी सावधानी से प्रसव समय प्रसूता  
के अंगों को आवश्यकतानुसार कोमल मर्दन करे और उत्पन्न होनेपर माता और

५—वि + भिनद्मि । भिदिर् विशेषकरणे, द्विधाकरणे च । मलात् पृथक्  
करोमि, विश्लेषयामि । मेहनम् । १ । ३ । ७ । गर्भमार्गम् । वि=विभिनद्मि ।  
एवं (वि) इति शब्देन सह सर्वत्र योजनीयम् । योनिस् । म० ३ । गर्भाशयम् ।  
ग्वीनिके । १ । ३ । ६ । पार्श्ववर्तिन्यौ नाड्यौ । मातरम् । १ । २ । १ । मान्यते  
पूज्यते सा माता । जननीम् । पुत्रम् । पुत्रो ह्रस्वश्च । उ० ४ । १६५ । इति  
पूङ् शोधे क् । ह्रस्वश्च धातोः । पुनाति पित्रा दीनिति पुत्रः । पुत्रः पुरुत्रायते निपर-  
णाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा-इति यास्कः, निरु० २ । ११ । पुरु + त्रैङ्-रक्ष-  
णे-ङ । यद्वा, पुत् + त्रैङ्-ड । यथा च रामयणे । २ । १० ७ । १२ । पुत्राम्नो  
नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन् यः पाति  
सर्वतः ॥ ” अपत्यम् । सन्तानम् । कुमारम् । कुमार क्रीडने-अच् । क्रीडा-



सन्तान की यथायोग्य शुद्धि करके सुधि रखने और ऐसा यत्न करे कि जरायु अपने आप गिर जावे जिस से दोनों माता और सन्तान सुखी रहें ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।

एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु

पद्यताम् ॥ ६ ॥

यथा । वातः । यथा । मनः । यथा । पतन्ति । पक्षिणः । एव ।  
त्वम् । दश-मास्य । साकम् । जरायुणा । पत । अव । जरायु ।  
पद्यताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( यथा ) जैसे ( वातः ) पवन और ( यथा ) जैसे ( मनः )  
मन और ( यथा ) जैसे ( पक्षिणः ) पक्षी ( पतन्ति ) चलते हैं । ( एव ) वैसेही  
( दशमास्य ) हे दस महीने वाले [ गर्भ के बालक ! ] ( त्वम् ) तू ( जरायुणा )  
साकम् ) जरायु के साथ ( पत ) नीचे आ, ( जरायु ) जरायु ( अव ) नीचे  
( पद्यताम् ) गिर जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—( दशमास्य ) दशवें अथवा ग्यारहवें महीने में बालक माता  
के गर्भ में बहुत शीघ्र चेष्टा करता है तब वह उत्पन्न होता है और जरायु वा  
जेली कुछ उस के साथ और कुछ उसके पोछे निकलती है ॥ ६ ॥

शीलम् । शिशुम् । जरायुणा । म० ४ । गर्भवेष्टनघर्मणा । अत्यत् गतम्—म० ४ ।

६—यथा । येन प्रकारेण । वातः । हसिमृत्रिण् वा० । उ० ३ । ८६ ।  
इति वा सुम्बासिगतिसेवासु—तन् । निच्वाद् आद्युदात्तः । वायुः, पवनः ।  
मनः । १ । १ । २ । घानसाधकम् अन्तः करणम् । पतन्ति । शीघ्रं गच्छन्ति  
उद्गीयन्ते । पक्षिणः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पक्ष—इति ।  
विहगाः । एव । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । एवम्, तथा ।  
दश-मास्य । तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च । पा० २ । १ । ५१ । इति

ऋग्वेद म० ५ सू० ७८ म० ८ में इस प्रकार है ।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।

एवा त्वं दशमास्य सुहावेहि जरायुणा ॥ १ ॥

जैसे वायु, जैसे वृक्ष और जैसे समुद्र हिलता है, ऐसे ही तू हे बस महीने वाले [ गर्भ के बालक ! ] जरायु के साथ नीचे आ ।

शब्दकल्पद्रुम कोश में लिखा है ।

अष्टमे मासि याते च अग्नियोगः प्रवर्तते ।

मासे तु नवमे प्राप्ते जायते तस्य चेष्टितम् ॥ १ ॥

जायते तस्य वैराग्यं गर्भवासस्य कारणात् ।

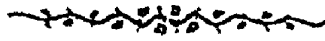
दशमे च प्रसूयेत तथैकादशमासि वा ॥ २ ॥

और आठवां महीना आने पर अग्नि योग होता है और नवमे महीने में उस [ गर्भ ] में चेष्टा होती है ॥ १ ॥ गर्भ में वास करने के कारण उस को वैराग्य ( उरुचाटन ) होता है, तब बसवे अथवा ग्यारहवें महीने में वह उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

तद्धितार्थे विषयभूते समासः । संख्यापूर्वो द्विगुः । पा० २ । १ । ५२ । इति द्विगु संज्ञायाम् । द्विगोर्यप् । पा० ५ । १ । ८२ । इति भरणार्थे यप् । हे दशसु मासेषु मात्रा पोषित शिशो । साकम् । सह । सहयुक्तेऽप्रधाने । पा० २ । ३ । १६ । इति सहार्थेन साकं शब्देन योगे जरायुणा इति अप्राधान्ये तृतीया । पत । अधो गच्छ । अथ । इत्यादि गतं म० ४ ।

## अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥



सूक्तम् १२ ॥

१—४ ॥ वृषा देवता । १, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४, रोग निवृत्तिः ।  
१-३ त्रिष्टुप् ११ × ४, ४ अनुष्टुप् ॥

१, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४ रोगनिवृत्तः— १, २ ईश्वर के गुण और ३ ४ रोग निवृत्ति का उपदेश ॥

जरायुजः प्रथम उस्त्रियं वृषा वार्तभ्रजा स्तनय-  
न्नेति वृष्ट्या । स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन्  
य एकमोजस्त्रे धा विचक्रमे ॥ १ ॥

जरायु-जः । प्रथमः । उस्त्रियः । वृषा । वार्त-भ्रजाः । स्तनयन् ।  
एति । वृष्ट्या । सः । नः । मृडाति । तन्वे । ऋजु-गः ।  
रुजन् । यः । एकम् । ओजः । त्रेधा । वि-चक्रमे ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—( जरायुजः ) भिक्षी से [ जरायुरूप प्रकृति से ] उत्पन्न करने वाला, ( प्रथमः ) पहले से वर्तमान, ( उस्त्रियः ) प्रकाशवान् [ हिरण्यगर्भनाम ], ( वार्तभ्रजाः ) पवन के साथ पाकशक्ति वा तेज देने वाला, ( वृषा ) मेघ रूप परमेश्वर ( स्तनयन् ) गरजता हुआ ( वृष्ट्या ) बरसा के साथ ( एति ) घलता रहता है । ( सः ) वह ( ऋजुगः ) सरलगामी ( रुजन् ) [ दोपों को ]

१—जरायुजः । पञ्चम्यामजातो । पा० ३ । २ । ६८ । इति जरायु+जन जननप्रादुर्भावयोः-ड । जरायोः प्रकृतिरूपाद् गर्भाशयाज्जनयति उत्पादयति सः । जरायुरूपायाः प्रकृतेः सृष्टिजनयिता । प्रथमः । प्रथमम् । उ० ५ । ६८ । इति,

मिटाता हुआ, ( नः ) हमारे ( तन्वे ) शरीरके लिये ( मृडाति ) सुख देवे, ( यः ) जिस ( एकम् ) अकेले ( ओजः ) सामर्थ्य ने ( त्रेधा ) तीन प्रकारसे ( विचक्रमे ) सब ओर को पद बढ़ाया था ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे माता के गर्भ से जरायु में लिपटा हुआ बालक उत्पन्न होता है वैसे ही ( उच्चियः ) प्रकाशवान् हिरण्यगर्भ और मेघ रूप परमेश्वर ( वातभ्रजाः ) सृष्टि में प्राण डालकर पाचन शक्ति और तेज देता हुआ सब संसार को प्रलय के पीछे प्रकृति, स्वभाव, वा सामर्थ्य से उत्पन्न करता है, वही त्रिकालक्ष और त्रिलोकीनाथ आदि कारण जगदीश्वर हमें सदा आनन्द देवे ॥ १ ॥

प्रथ ख्यातौ—अमच् । आदिमः, जगतः पूर्व वर्तमानः । उच्चियः । स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वस निवासे—रक् । वसत्येषु सूर्यादिपग्तेजः, वसन्त्येषु रसाः इति उस्नाः किरणाः, ततो मत्वर्थीयो घः । रश्मिवान्, हिरण्यगर्भः । परमेश्वरः । वृषा । कनिन् युवृषितक्षि० उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचने, प्रजनैश्रयोः—कनिन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । वर्षकः । पेश्वर्यवान् । इन्द्रः, सूर्यः, मेघः । तद्द् वर्तमानः । वातभ्रजाः । वात + भ्रज्-पाके वा भ्राज दीप्तौ—असुन् । वातेन सह पाकः, दीप्तिस्तेजो वा यस्य स वातभ्रजाः । स्तनयन् । स्तनदेवशब्दे, चुरादिः,—शतृ । गर्जयन् । एति । गच्छति । वृष्ट्या । वृषुं सेचने—किन् । वर्षणेन । मृडाति । मृड सुखने—लेट्, आडागमः । सुखयेत् । तन्वे । १ । १ । १ । स्वरितश्च । शरीराय । ऋजुगः । ऋजु + गम्-ड । सरलगामी । रुजन् । रुजो भङ्गे, तुदादिः—शतृ । । भञ्जन्, दोषान् निवारयन् । एकम् । इण् भीकापा० उ० ३ । ४३ । इति इण् गतौ—कन् । एति सर्वं व्याप्नोतीति एकः । मुख्यम्, केवलम् । ओजः । उब्जेर्वले बलोपश्च । उ० ४ । १६२ । इति उब्ज आर्जवे—असुन् । बलम्, तेजः । त्रेधा । संख्याया विधार्थे धा । पा० ५ । ३ । ४२ । त्रिप्रकारेण, भूतवर्तमानभविष्यति वर्तमानत्वेन, त्रिलोक्यां व्यापनेन । वि-चक्रमे । क्रमु पादविक्षेपे—लिट्, वेः पादविहरणे । पा० १ । ३ । ४१ । इति आत्मनेपदम् । विविधम् आक्रान्तवान् ॥

यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है—य० १३ । ४ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रं भूतस्य जातः पतिरेकं  
आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेसां कस्मै देवाय  
हविषा विधेम ॥

( हिरण्यगर्भः ) तेजों का आधार परमेश्वर पहिले ही पहिले नियम पूर्वक  
वर्तमान था, वह संसार का प्रसिद्ध एक स्वामी था । उसने इस पृथिवी और  
प्रकाश को धारण किया था, हम सब उस प्रकाशमय प्रजापति परमेश्वर  
की भक्ति से सेवा किया करें ॥

और भी देखो ऋ० १ । २२ । १७ ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।  
समूढमस्य पांसुरे ॥

( विष्णु ) व्यापक परमेश्वर ने इस [ जगत् ] में अनेक अनेक प्रकार से  
पग को बढ़ाया, उसने अपने विचारने योग्य पद को तीन प्रकार से परमाणुओं  
से युक्त [ संसार ] में जमाया ॥

सायणभाष्य में ( वातभ्रजाः ) के स्थान में ( वातवजाः ) शब्द और अर्थ  
“वायु समान शीघ्रगामी” है ॥

अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा  
हविषा विधेम । अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम  
यो अग्रभीत् पर्वीस्युः ग्रभीता ॥ २ ॥

अङ्गे-अङ्गे । शोचिषा । शिश्रियाणम् । नमस्यन्तः । त्वा ।  
हविषा । विधेम । अङ्कान् । सम्-अङ्कान् । हविषा । विधेम ।  
यः । अग्रभीत् । पर्व । अस्युः । ग्रभीता ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—( शोचिषा ) अपने प्रकाश से ( अङ्गे अङ्गे ) अङ्ग अङ्ग में

२-अङ्गे-अङ्गे । अङ्ग चिह्न करणे-अच । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४

( शिश्रियाणम् ) ठहरे हुये ( त्वा ) तुम्ह को ( नमस्यन्तः ) नमस्कार करते हुये हम ( हविषा ) भक्ति से ( विधेम ) सेवा करते रहें । [ उसके ] ( अङ्गान् ) पृथक् पृथक् चिन्हों को और ( समङ्गान् ) मिले हुये चिन्हों को ( हविषा ) भक्ति से ( विधेम ) हम आराधें, ( यः ) जिस ( ग्रभीता ) ग्रहण करने हारे परमेश्वर ने ( अस्य ) इस [ सेवक वा जगत् ] के ( पर्व ) अवयव अवयव को ( अग्रभीत ) ग्रहण किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—वह ( वृषा ) परमात्मा हमारे और सब व्यक्ति और समस्ति रूप जगत् के रोम रोम में परिपूर्ण है उस प्रकाश स्वरूप के गुणों को यथावत् जानकर हम लोग उस पर पूरी श्रद्धा से आत्म समर्पण करें । वह हमारे शरीर और आत्मा को बल देकर सहाय और आनन्द देता है ॥ २ ॥

इति द्विर्वचनम् । अङ्ग इत्यादौ च । पा० ६ । १ । ११६ । इति प्रकृतिभावः । सर्वेष्वङ्गेषु अवयवेषु । शोचिषा । अर्चिशुचिद्वृत्पि० । उ० २ । १०८ । इति शुच शौचे = शुद्धौ-इति । दीप्त्या प्रकाशेन । शिश्रियाणम् । लिटः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति । श्रिञ् सेवायाम्-कानच् । अचि श्नुधातु० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति इयडादेशः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तत्वम् । आश्रितम्, परिपूर्णम् । नमस्यन्तः । नमोवरिवश्चि त्रिङः क्यच् । पा० ३ । १ । १६ । इति नमस्-क्यच् पूजायाम् । लटः शतृ । पूजयन्तः । त्वा । त्वां वृषाणम् । हविषा । १ । ४ । ३ । दानेन, आत्मसमर्पणेन भक्त्या । विधेम । विध विधाने, तुदादिः, विधिलिङ् । परिचरणकर्मा-निघ० ५ । ५ । परिचरेम, सेवेमहि । अङ्कान् । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति अञ्चु गतिपूजनयोः-कर्तृणि घञ् । चजोः कुघिणयतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अञ्चनशीलान् गमनशीलान्, व्यस्तिरूपेण पृथक् पृथग् व्याप्तान् गुणान् । सम्-अङ्कान् । सम्भूय गमनशीलान् । समस्तिरूपेण संगतान् गुणान् । अग्रभीत् । ग्रह उपादाने-लुङ्, हस्य भकारः । अग्रहीत् । पर्व । स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पृ पालने, पूतौ -वनिप् । प्रत्येकावयवम् । अग्रभीता । ग्रह उपादाने-तृच् । हस्य भः । अग्रहीता, ग्राहकः, धारकः ॥

मुञ्च शीर्षकृत्या उत कास एनं परुषपरुराविवेश-  
शा यो अस्य । यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो  
वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

मुञ्च । शीर्षकृत्याः । उत । । कासः । एनम् । परुः-परुः । आ-  
विवेशः । यः । अस्य । यः । अभ्र-जाः । वात-जाः । यः । च ।  
शुष्मः । वनस्पतीन् । सचताम् । पर्वतान् । च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(एनम्) इस पुरुष को (शीर्षकृत्याः) शिरकी पीड़ा से (उत) और  
[उस खाँसीसे] (मुञ्च) छुड़ा (यः कासः) जिस खाँसी ने (अस्य) इस पुरुष के  
(परुःपरुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घर कर लिया है । (यः) जो खाँसी (अभ्रजाः)  
मेघ से उत्पन्न, (वातजाः) वायु से उत्पन्न (च) और (यः) जो (शुष्मः) सूखी  
[होवे और जो] (वनस्पतीन्) वृक्षों से (च) और (पर्वतान्) पहाड़ों से (सच-  
ताम्) संबन्ध वाली होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—खाँसी सब रोगों की माता है जैसा कि प्रसिद्ध है "लड़ाई का  
घर हाँसी और रोग का घर खाँसी" । जैसे सद्ब्रह्म मन्त्र में कहे अनुसार मस्तक

३—मुञ्च । मुञ्च मोचणे । मोचय । शीर्षकृत्याः । शीर्ष + अञ्चु गतिपूज-  
नयोः-क्तिन् । शीर्षं शिरः अञ्चति गच्छति व्याप्नोतीति शीर्षक्तिः, तस्याः शिरः-  
पीडायाः सकाशात् । उत । अपि च । कासः । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ ।  
इति काश्च शब्दकुत्सनयोः—घञ् । रोगविशेषः । कार्सी वा खाँसी  
इति भाषा । ह्यथुः । परुः- परुः । अर्त्तिपृथपियजि० । उ० २ । ११७ ।  
इति पृ पूर्त्तिपालनयोः- उल्लि । सर्वान् शरीरसन्धीन् । आ-विवेशः । विश  
प्रवेशने-लिट् । छान्दसो दीर्घः । प्रविष्टवाम् । अभ्रजा । अप् + भृ-क्त । अपो  
विभर्त्तति अभ्रं मेघः । जनसनवनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इतिअभ्र +  
जनी प्रादुर्भावे-विट् । चिड्वनोर नुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् ।  
मेघस्य सम्बन्धाज्जातः । वातजाः । पूर्ववत् । वात + जनी-विट् । वायोजानि  
उत्पन्नः कासः शुष्मः । अविशिविशिष्टुपिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति

की पीड़ा और खाँसी आदि बाहिरी और भीतरी रोगों का निदान जान कर रोगी को स्वस्थ करता है इसी प्रकार परमेश्वर वेद ज्ञान से मनुष्य को दोषों से छुड़ा कर और ब्रह्म ज्ञान देकर अत्यन्त सुखी करता है । इसी प्रकार राज प्रबन्ध और गृह प्रबन्ध आदि व्यवहार में विचारना चाहिये ॥ ३ ॥

शं मे परस्मै गात्राय शमस्तववराय मे ।

शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे ३ मम ॥४॥

शम् । मे । परस्मै । गात्राय । शम् । अस्तु । अवराय । मे ।  
शम् । मे । चतुः-भ्यः । अङ्गेभ्यः । शम् । अस्तु । तन्वे । मम ॥४॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शरीर के लिये (शम्) सुख और (मे) मेरे (अवराय) नीचे के शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे । (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों के लिये (शम्) सुख और (मम) मेरे (तन्वे) सब शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

शुष शोषे-मन् स च कित् । शोषकः, पित्तविकारादिजनितः कासः । वनस्प-  
तीन् । १ । ३५ । ३ । वनानां पतिः पाता वा वनस्पतिः । वनति सेवते अथवा  
वन्यते सेवते इति वनम् । वन सेवने, याचने, उपकारे-अच् । पारस्करप्रभृतीनि  
च संज्ञायाम् । पा० ६ । १ । १५७ । इति सुडागमः । सर्ववृक्षान् । सचताम् ।  
षच समवाये-लाट् । सचन्ताम्=संसेव्यन्ताम्-निरु० ६ । ३३ । समवैतु, सम्ब-  
धातु । पर्वतान् । भृमृदशियजिपर्विपचि । उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे-  
अतच् । शैलान् ॥

४-परस्मै । १।८।३। श्रेष्ठाय, उपरिवर्तमानाय । गात्राय । गमेराच । उ०  
४ । १६६ । इति गम्लु-त्रन्, मस्य आकारः । गच्छति चेष्टतेऽनेन । अङ्गाय, शरी-  
राय । अवराय । १ । ८ । ३ । निकृष्टाय, अवस्ताद् वर्तमानाय । चतुः-भ्यः ।  
चतुःसंख्येभ्यः । द्वौ हस्तौ, द्वौ पादौ-इति चत्वारि तेभ्यः । अङ्गेभ्यः । अङ्गपदे=  
गतौ-अच् । अङ्गयति चेष्टतेऽनेन । अवयवेभ्यः, गात्रेभ्यः । तन्वे । म० १ ।  
शरीराय सर्वस्मै ॥



भावार्थ—चारों अंग दो हाथ और दो पद हैं । मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक अपने सब अमूल्य शरीर को प्रयत्न से सर्वथा स्वस्थ रखे और मानसिक बल बढ़ा कर संसार में उपकारी हो और सदा सुख भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १, २ अनुश्रुष्टुप्, ३, ४ जगती १२ × ४ ॥

आत्मरक्षोपदेशः—आत्मरक्षा के लिये उपदेश ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्तवे ।

नमस्ते अस्त्वश्मने येना दुडाशे अस्यसि ॥ १ ॥

नमः । ते । अस्तु । वि-द्युते । नमः । ते । स्तनयित्तवे ।

नमः । ते । अस्तु । अश्मने । येन । दुः-दाशे । अस्यसि ॥१॥

भाषार्थ—हे परमेश्वर । ( ते ) तुझ ( विद्युते ) कौंधा लेती हुयी, विजुली रूप को ( नमः ) नमस्कार ( अस्तु ) होवे, ( ते ) तुझ ( स्तनयित्तवे ) गड़गड़ाते हुये, बादलरूप को ( नमः ) नमस्कार होवे । ( ते ) तुझ ( अश्मने ) पाषाण रूप को ( नमः ) नमस्कार ( अस्तु ) होवे, ( येन ) जिस [पत्थर] से ( दुडाशे ) दुःखदायी पुरुष को ( अस्यसि ) तू ढादेता है ॥ १ ॥

१—विद्युते । भ्राजभासधुर्विद्युतो० । पा० ३ । २ । १७७ । इति वि + द्युत दीप्तौ—क्विप् विशेषेण दीप्यमानायै तडिते, सौदामिन्यै, तडिद्रपाय । स्तनयित्तवे । स्तनिहृपिपुणिगदिभदिभ्यो णेरित्तुच् । उ० ३ । २६ । इति स्तन देवशब्दे—इत्तुच् । चुरादित्वात् णिच् । अदन्तत्वाद् उपधावृध्यभावः । अयामन्ताल्वाय्येत्त्विष्णुपु । पा० ६ । ४ । ५५ । इति णेः अयादेशः । गर्जनशीलाय मेघाय, तद्रूपाय । अश्मने । अशिशकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशुद्धव्याप्तिसंहस्योः—मनिच् । व्यापनशीलाय । पाषाणाय, तद्रूपाय । दुः-

भावार्थ—न्यायकारी परमात्मा दुःखदायी अधर्मी पापियों को आधि-  
दैविक आदि दंड देकर असह्य विपत्तियों में डालता है, इसलिये सब मनुष्य  
उस के कोप से डर कर उसकी आज्ञा का पालन करें और सदा आनन्द भोगें ॥१॥

नमस्ते प्रवतो नपाद् यत्तुस्नपः समूहसि ।

मृडय नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

नमः । ते । प्र-वतः । नपात् । यतः । तपः । सम्-जहसि ।

मृडय । नुः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ २ ॥

भावार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने हारें ! (ते) तुम्हें  
को (नमः) नमस्कार है, (यतः) क्योंकि तू [ दुष्टों पर ] (तपः) सन्ताप को  
(समूहसि) संयुक्त करता है । (नः) हमें (तनूभ्यः) हमारे शरीरों के लिये  
(मृडय) सुख दे और (तोकेभ्यः) हमारे सन्तानों के लिये (मयः) सुख  
(कृधि) प्रदान कर ॥ २ ॥

दाशे । दुर् + दाश्ट दाने-घञ् वा अल् । पृषोदरादीनि यथापदिष्टम् । पा० ६ ।  
३ । १०६ । अत्र । दुरोदाशनाशदमध्येष्वमुत्तरपदादेः ष्टुन् च । इति वार्त्तिकेन  
केन ऊर्ध्वं उर्ध्वं च । दुर् दुःस्रं दाशति ददातीति दूडाशः । सुर्यां सुर्यां भवन्ति ।  
वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति द्वितीयायां सप्तमी । दुःखदायितम् अधार्मिकं  
पुरुषम् । अस्यसि । असु लोपणं-श्यन् । द्विपसि नाशयसि ॥

२—प्र-वतः । प्रपूर्वकात् च न नभक्तौ = सेवने, याचे च-किप् । नमः शौ  
पा० ६ । ४ । ४० । अत्र । गमादीनामिति यक्तव्यम् । इति वार्त्तिकेन नकारलोपः ।  
ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । भक्तस्य सेव-  
कस्य याचकस्य अथवा भक्तान् द्वितीयार्थे । नपात् । नप् पूर्वतान् पत  
अधःपतने, शिच्—किप् । नभ्राण् नपात्० । पा० ६ । ३ । ७१ । इति नप्  
प्रकृतिभावः । न पातयतीति नपात् । हे नपातयितः, न पातनशील ! धारयितः ।  
(नपात्) य० १२ । १०८ । न विद्यते पातो धर्मात् पतनं यस्य सः-इति धीं गद्-  
दयानन्दः । यतः । यस्मात् कारणात् । तपः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ ।  
१८६ । इति तप सन्तापे—असुन । सन्तापम । सम् + जहसि—ऊह वितर्क ।

भावार्थ— परमेश्वर भक्तों को आनन्द और पापियों को कष्ट देता है ।  
सब मनुष्य नित्य धर्म में प्रवृत्त रहें और संसार भर में सुख की वृद्धि करें ॥

प्रव॑तो न॒पा॒न् नम॑ ए॒वास्तु॑ तु॒भ्यं॒ नम॑स्ते हे॒तये॑  
तपु॑षे च कृ॒णमः॑ । विद्म॑ ते॒ धाम॑ प॒रमं॑ गु॒हा यत्  
समु॑द्रे अ॒न्तर्निहि॑तासि॒ नाभिः॑ ॥ ३ ॥

प्र-व॑तः । न॒पा॒त् । नमः॑ । ए॒व । अ॒स्तु । तु॒भ्यं॒ । नमः॑ । ते॒ ।  
हे॒तये॑ । तपु॑षे । च । कृ॒ण॒मः॑ । वि॒द्म॑ । ते॒ । धाम॑ । प॒र॒मम् ।  
गु॒हा । यत् । स॒मु॒द्रे । अ॒न्तः । नि-हि॑ता । अ॒सि॑ । नाभिः॑ ॥३॥

भाषार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने वाले ! (तुभ्यम्)  
तुम्हें (एव) अवश्य (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुम्हें (हेतये) वज्र  
रूप को (च) और (तपुषे) तपाने वाले तोष आदि अस्त्ररूपको (नमः) नमस्कार  
(कृणमः) हम करते हैं । (यत्) क्योंकि (ते) तेरे (परमम्) बड़े ऊँचे (धाम)  
धाम [निवास] के (गुहा=गुहायाम्) गुफा में [अपने हृदय और प्रत्येक  
अगम्य स्थान में] (विद्म) हम जानते हैं । (समुद्रे अन्तः) आकाश के बीच में

उपसर्गवशात् संघोकरणे । संघतं करोपि, संयोजयपि । मृडय । मृड तोषणे ।  
तोषय, अनुगृहाण । तनूभ्यः । १ । १ । १ । शरीरेभ्यः । तेषां हिताय । मयः ।  
मिष हिंसायाम्-असुन् । मिनोति दुःखम् । सुखम् । निघ० ३ । ६ । लोकेभ्यः ।  
कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । इति तु वृद्धौ पूतौ-क प्रत्ययः । तौति  
पूर्यति गृह्णति तोकम् । अपत्यनाम-निघ० २ । २ । अपत्येभ्यः । कृधि । कुरु ।  
देहि । लोकेभ्यस्कृधि । कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः । पा० ८ । ३ ।  
५० । इति विसर्गस्य सत्त्वम् ॥

३—प्र-व॑तः नपात् । म० २ । हे स्वभक्तस्य न पातयितः । हेतये ।  
ऊत्तियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च । पा० ३ । ३ । ६७ । इति हत वधे गतौ च  
क्तिन् । एत्वम् उदात्तत्वं घ निपात्येते । यद्वा हि वर्धने गतौ च—क्तिन् निपाति-  
तश्च । ह्यन्तेऽनया शत्रवः । गम्यतेऽनया जयः, वर्धयते वैश्वर्यम् । हेतिः, वज्र-

(नाभिः) वन्ध में रखने वाली नाभि के समान तू, (निहिता) उहरा हुआ (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस भक्त रक्षक, दुष्टनाशक परमात्मा का (परम धाम) महत्व सब के हृदयों में और सब अगम्य स्थानों में वर्तमान है। जैसे (नाभि) सब नाड़ियों को वन्धन में रखकर शरीर के भार को समान तोल कर रखती है, वैसे ही परमेश्वर (समुद्र) अन्तरिक्ष वा आकाश में स्थित मनुष्य आदि प्राणियों और सब पृथिवी, सूर्य आदि लोकों का धारण करने वाला केन्द्र है। विद्वान् लोग उसको माथा टेकते और उसकी मदिमा को जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

यां त्वा देवा असृजन्तु विश्वं इषु कृण्वाना अस-  
नाय धृष्णुम् । सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते  
नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

नाम-निघ० ३ । २० । वजाय, वजरूपाय । तपुषे । अर्त्तिपृषपियजितनिधनि-  
तपिभ्यो-निन् । उ० २ । ११७ । इति तप ऐश्वर्यसंतापदाहेषु-उसि । दाहकाय  
अस्त्राय, तद्रूपाय । कृणमः । कृवि हिंसाकरणयोः—लट् । वयं कुर्मः । विद्व ।  
विदोल्लटो वा । पा० ३ । ४ । ८३ । इति विद् ज्ञाने मसो मादेशः । वयं जानीमः ।  
धाम । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति धा-मनिन् । स्थानम्,  
गृहम् । प्रभावम् । परमम् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ४ । इति पर+  
मा माने-क । उत्कृष्टम् । गुहा । १ । ८ । ४ । सप्तम्या लुक् । गुहायाम्, गते  
हृदये । गुहावद् अगभ्ये प्रदेशे यत् । यस्मात् कारणात् । समुद्रे । १ । ३ । ८ ।  
अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ इति सम्+उत्+द्रु गतौ-डप्रत्ययः,  
यद्वा, स्फायितञ्चिचञ्चि० । उ० २ । १३ । सम्+मुद हर्षे-अधिकरणे रक् ।  
यद्वा, सम्+उन्दीत्क्लेदने-रक् । सागरे, उदधौ, अन्तरिक्षे-निघ० १ । ३ । अन्तः ।  
मध्ये । नि-हिता । इधाते हिंः । पा० ७ । ४ । ४२ । इति नि पूर्वात् धाजः—क,  
हिरादेशः । स्थापिता । नाभिः । नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । इति राह वन्धने-  
इष् प्रत्ययः, क्तिन्त्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति आद्युदात्तः । नहति  
यभाति नाडीः । स्त्रीलिंगता । तुन्दकूपी । नाभिचक्रवत् मध्यस्थः ॥

याम् । त्वा । देवाः । असृजन्त । विश्वे । इषुम् । कृत्वानाः ।  
असनाय । धृष्णुम् । सा । नः । मृड । विदथे । गृणाना । तस्यै ।  
ते । नमः । अस्तु । देवि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( विश्वे ) सब ( देवाः ) विद्वानों ने ( याम् त्वा ) जिस तुम्ह  
परमेश्वर को (असनाय) नाश के लिये (धृष्णुम्) बहुत दृढ़ (इषुम्) शक्ति  
अर्थात् बरछी (कृत्वानाः) बनाकर (असृजन्त) माना है । (सा) सो तू (विदथे)  
यज्ञ में (गृणाना) उपदेश करती हुयी (नः) हमको (मृड) सुख दे, (देवि) हे देवी  
[बरछी] (तस्यै ते) उस तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के क्रोध को सब संसार के दोषों के  
नाश के लिये बरछी रूप समझ कर सदा सुधार और उपकार करते हैं तब  
संसार में प्रतिष्ठा और मान पाकर सुख भोगते और परमात्मा के क्रोध का  
धन्यवाद देते ॥ हैं ॥

यजुर्वेद में लिखा है—यजु० १६।३ ॥

यामिषु<sup>१</sup> गिरिशन्तु हस्ते<sup>१</sup> विभर्ष्यस्तवे ।

शिवां गिरित्र तां कुरु<sup>१</sup> माहिंसीः<sup>१</sup> पुरुषं जगत् ॥१॥

४—त्वा । प्रवतो नपातम्, म०३ । देवाः । विद्वांसः । असृजन्त । सृजं  
विसर्गे—लङ् । सृष्टवन्तः, त्यक्तवन्तः । मनसा कल्पितवन्तः । इषुम् । ईषेः  
किच्च । उ० १ । १३ । इति ईष हिंसने—उ, ह्रस्वश्च । अथवा । इष गतौ—उ ।  
चाणम् शक्तिनामायुधम् । कृत्वानाः । कृवि हिंसाकरणयोः—शानच् ।  
कुर्वाणाः । असनाय । असुक्ष्णपणे—भावे ल्युट् । क्षेपणाय । नाशनाय । धृष्णुम् ।  
असिगृधिधृषिपिपेः क्तुः । पा०३ । २ । १४० । इति जिधृषा प्रागल्भ्ये—क्तु । प्रग-  
ल्भाम्, निर्भयाम् सुदृढाम् । मृड । मृडय, सुखय । विदथे । क्विदिभ्यांङित् । उ०  
३ । ११५ । इति विद ज्ञाने विद्वत् लाभे विद विचारणे, विद सत्तायाम्—अथ  
प्रत्ययः । स च ङित् । विदथः, यज्ञनाम—निघ० ३ । १७ । ज्ञायते हि यज्ञः, लभते हिं  
दक्षिणादिरत्र, विचार्यते हि विद्वद्भिः, भावयत्यनेन फलम्—इति तत्र टीकायां  
देवराज यज्वा । यज्ञे । वेदितव्ये कर्मणि । गृणाना । गृ शब्दे—शानच् । शब्दा-  
यमाना, उपदिशन्ती । देवि । हे द्योतमाने, हे दिव्यगुणयुक्त ॥

हे वेद द्वारा शान्ति फैलाने वाले ! जिस बगड़ी वा वाण को चलानेके लिये अपने हाथों में तू धारण करता है । हे वेदद्वारा रक्षा करने वाले ! उस को मंगलकारी कर, पुरुषार्थी लोगों को तू मत मार ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—४ ॥ वधूवरौ देवते । अनुष्टुप् ८×४ ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाहसंस्कार का उपदेश ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।

महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृषु स्ताम् ॥ १ ॥

भगम् । अस्याः । वर्चः । आ । अदिषि । अधि । वृक्षात्-इव ।  
स्रजम् । महाबुध्नः-इव । पर्वतः । ज्योक् । पितृषु । आस्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [वधू] से (भगम्) [अपने] ऐश्वर्य को और (वर्चः) तेज को (आ अदिषि) मँने माना है, (इव) जैसे (वृक्षात् अधि) वृक्षसे (स्रजम्) फूलों की माला को । (महाबुध्नः) विशाल जड़वाले (पर्वतः इव) पर्वत के समान [ यह वधू ] ( पितृषु ) [मेरे] माता पिता आदि वान्धवों में (ज्योक्) बहुत काल तक (आस्ताम्) रहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—ग्रह वर का वचन है । विद्वान् पुरुष खोज कर अपने समान गुण धरती स्त्री से विवाह करके संसार में ऐश्वर्य और शोभा पाता है जैसे वृक्ष के सुन्दर फूलों से शोभा होती है । वधू अपने सास ससुर आदि माननीयों की

१—भगम् । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३।३।१६। इति भज सेवायाम्-  
घ प्रत्ययः । चजोः कुर्धिर्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति घत्वम् । भगः । धननाम  
निघ २ । १० । श्रियम्, ऐश्वर्यम् कीर्तिम् । अस्याः । नवोढायाः स्त्रियाः स-  
काशात् । वर्चः । १ । ६ । ४ । रूपम् । तेजः । आ+अदिषि । आङ् पूर्वकात्  
डुदाञ् आदाने-लुङ् । आङो दोऽनास्य विहरणे । पा० १ । ३ । २० । इति  
आत्मनेपदम् । अहं गृहीतवान् प्राप्तवानस्मि । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादी । उपरि ।

सेवा और शिक्षा से दृढ़चित्त होकर घर के कामों का सुप्रबन्ध करके गृहलक्ष्मी की पक्की नेव जमावे और पति पुत्र आदि कुटुम्बियों में बड़ी आयु भोग कर आनन्द करे ॥ १ ॥

मन्त्राः २—४ । वधूपक्षोक्तिः ॥

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।

सा मातुर्वध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

एषा । ते । राजन् । कन्या । वधूः । नि । धूयताम् । यम् । सा ।  
मातुः । वध्यताम् । गृहे । अथो इति । भ्रातुः । अथो इति । पितुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम) हे नियम में चलाने वाले, वर (राजन्) राजा ! (एषा) यह (कन्या) कामना योग्य कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधू (नि)नियम से (धूयताम्) व्यवहार करे। (सा) वह (मातुः) [तेरी] माता के, (अथो) और भी (पितुः) पिताके (अथो) और (भ्रातुः) भ्राता के साथ (गृहे) घरमें (वध्यताम्) नियम से बन्धी रहे ॥ २ ॥

वृक्षात् इव । १ । २ । ३ । इगुपधक्षाप्रीकिरः । पा० ३ । १ । १३५ ।  
इति वृक्ष वरणे-क । वृक्ष्यते व्रियते सेव्यते छायाफलार्थम् । विटपात् यथा ।  
स्त्रजम् । ऋत्विग्दधृक् स्रग्दिगुष्णिक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति सृज विसर्गे-  
किन् । सृजति ददाति शोभामिति स्रक् । पुष्पमालाम् । महाबुध्नः । वन्धे-  
र्ध्विबुध्नी च । उ० ३ । ५ । इति वन्ध वन्धने-नक्, बुधादेशश्च । विशालमूलः,  
एदमूलः । पर्वतः । १ । १२ । ३ । शैलः । भूधरः । ज्योक् । १ । ६ । ३ । चिर-  
कालम् । पितृषु । १ । २ । १ । रक्तकेषु । जनकवत् मान्येषु, मातापित्रादिषु  
वन्धुषु । आस्ताम् । आस उपवेशने-लोट् । तिष्ठतु । निवसतु ॥ १ ॥

२—राजन् । १ । १० । १ । हे ऐश्वर्यवान् जामातः । कन्या । अकन्या-  
दयश्च । उ० ४ । ११२ । इति-कन प्रीतौ, द्युतौ, गतौ, -यक्, टाप्च । कन्यते काम्यते  
दीप्यते गच्छति वा सा । कमनीया । पुत्री । वधूः । वहेर्धश्च । उ० १ । ८३ ।  
वह प्रापणे-ऊ प्रत्ययः, धश्च । वहति प्रापयति सुखानीति । यद्वा । वन्ध-ऊ,

भावाय—मन्त्र २—४ वधू पक्ष के वचन हैं । वधू के माता पिता आदि घर से कहे कि यह सुशिक्षिता गुणवती कन्या आप को सौंपी जाती है यह आप के माता, पिता और भ्राता आदि सब कुटुम्बियों में रहकर अपने सुप्रबन्ध से सब को प्रसन्न रखे और सुख भोगे ॥ २ ॥

मनुजी महाराज ने कहा है—मनुस्मृति अ० २ श्लो० २४० ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।

विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १ ॥

स्तुति योग्य स्त्रियां, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, और मीठी बोली, और अनेक प्रकार की हस्त क्रियायें सब से यत्नपूर्वक लेना चाहिये ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि ॥१॥

म० ५ । १४७ ॥

चाहे स्त्री बालक वा युवती वा बूढ़ी हो, वह स्वतन्त्रता से कोई काम घरोंमें भी न करे ॥

न लोपः । वध्नाति प्रेम्णा या नचोढा स्त्री, भार्या । नि । नितराम्, नियमेन । ध्रुयताम् । धूञ् कल्पने-कर्मणि लोट् । चेष्टताम्, गृहकार्येषु प्रवर्तताम् । यम् । यम नियमने-अच् । यमयति नियमयति गृहकार्याणीति । यमो यच्छृतीति । सतः, मध्यस्थानदेवतास्तु-निरु० १० । १६ । घुस्थानः-निरु०, १२ । १०, ११ । वायुः, सूर्यः । हे नियामक घर ! आतुः । १ । २ । १ । तव जनन्याः । वध्यताम् । बन्ध बन्धने कर्मणि लोट् । प्रेमवद्धा भवतु । गृहे । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने-रु । वासस्थाने, भवने, मन्दिरे । अथी । अथ + उ । अपि च । भ्रातुः । नष्टनेष्टृत्वष्टृहोत्० । उ० २ । ६५ । इति भ्राज दीप्तौ-तृन् । सहो-द्वरस्य । पितुः । म० १ । जनकस्य ॥ २ ॥



एषा ते कुलपा राजन् तामु' ते परि ददमसि ।

ज्योक् पितृष्वसाता आशीर्षाः सुभोप्यात् ॥ ३ ॥

एषा।ते।कुल-पाः।राजन्।ताम्।जं इति।ते।परि।ददमसि।

ज्योक् । पितृषु' । आसातै । आशीर्षाः । सुभ-ओप्यात् ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—(राजन्) हे वर राजा (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपाः) कुल की रक्षा करने वाली है, (ताम्) उसको (जं) ही (ते) तेरे लिये (परि) आदर से (ददमसि) हम दान करते हैं। यह (ज्योक्) बहुत काल तक (पितृषु) तेरे माता पिता आदिकों में (आसातै) निवास करे, और (आशीर्षाः) अपने मस्तक तक [जीवन पर्यन्त वा बुद्धि की पहुँच तक] (सुभोप्यात्) ठीक ठीक बढ़ती का बीज बोवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—फिर वधूपक्ष वाले माता पिता आदि इस मन्त्र से जामाता की विनती करते और स्त्री धर्म का उपदेश करते हुये कन्या दान करके गृहाश्रम में प्रविष्ट कराते हैं ॥ ३ ॥

३—कुलपाः । कुल + पा रक्षणे-कर्मण्युपपदे विच् प्रत्ययः । पातिवत्येन कुलस्य पालयित्री रक्षयित्री । राजन् । हे पेश्वर्यवन् जामातः । जं इति । अवश्यम् । परि + ददमसि । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तत्वम् । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षणार्थं दानं, समर्पयामः । ज्योक् । म० १ । दीर्घकालम् । पितृषु । म० १ । मातापित्रादिवन्धुषु । आसातै । आस उपवेशने-लेटि आडागमः । टेः एत्वे । वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ६६ । इति ऐकारः । आस्ताम्, निवसतु । आ-शीर्षाः । १ । ७ । ७ । आङ् मर्यादावचने । पा० १ । ४ । ८६ । इति आङ् कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । पञ्चम्यपाङ् परिभिः । पा० २ । ३ । १० । इति पञ्चमी । शीर्षं श्लुन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षं आदेशः । मस्तकस्थितिपर्यन्तं, जीवनपर्यन्तम् । सम्-ओप्यात् = सम् + आ + उष्यात् । वप बीजवपने मुरडने च-आशीर्षिङ् । यथामर्यादं बीजवपनं वर्धनं कुर्यात् ॥ ३ ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।  
अन्तः कोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

असितस्य । ते । ब्रह्मणा । कश्यपस्य । गयस्य । च ।  
अन्तः-कोशम्-इव । जामयः । अपि । नह्यामि । ते । भगम् ॥४॥

भाषार्थ—(असितस्य) जो तू बन्धन रहित, (कश्यपस्य) [ सोम ] रस पीने हारा, (च) और (गयस्य) कीर्तन के योग्य है उस (ते) तेरे (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान के कारण (ते) तेरे लिये (भगम्) ऐश्वर्य को (अपि) अवश्य (नह्यामि) मैं बांधता हूँ । (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां [वा वहिने] (अन्तः कोशम्) मञ्जूषा वा पिटारे को [बांधती] हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र के अनुसार वधू पक्ष वाले पुरुष और स्त्रियां विनती करके श्रेष्ठ घर और कन्या को धन, भूषण, और वस्त्र आदि से सत्कार के साथ विदा करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१-४ । प्रजापतिर्देवता । १ पूर्वार्धोऽनुष्टुप् , द्वितीयार्धस्त्रि-  
ष्टुप्, २ पूर्वार्धो जगती द्वितीयोऽनुष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

४—असितस्य । अञ्चिघृत्सिभ्यः क्तः । उ० ३।८६ । इति पिञ् बन्धने-क्त, नञ् समासः । अवद्धस्य, मुक्तस्य । ब्रह्मणा । १ । ८ । ४ ॥ वेदज्ञानकारणेन । कश्यपस्य । कश् शब्दे-वाहुलकात् करणे-यत् । कश्ति अनेनेति कश्यं सुख-करो रसः । कश्य+पा पाने-क । कश्यं सोमरसं पिवतीति कश्यपः । सोमपानशीलस्य । गयस्य । गौ गाने-घञ्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । गेयस्य कीर्तनीयस्य । अन्तः कोशम्-कुश संश्लेषणे - अधिकरणे घञ् । वस्त्रादि-धारणाय आवरणम्, मञ्जूषाम् । जामयः । १ । ४ । १ । कुलस्त्रियः, माता-भगिन्यादयः । अपि । अवधारणे, अवश्यम् । नह्यामि । एह बन्धने श्यन् । बध्नामि । भगम् । म० १ । ऐश्वर्यम् ॥ ४ ॥

पेश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—पेश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणाः । इमं  
यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । सिन्धवः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणाः ।  
इमम् । यज्ञम् । प्र-दिवः । मे । जुषन्ताम् । सम्-स्राव्येण । हविषा ।  
जुहोमि ॥ १ ॥

भाषार्थ— (सिन्धवः) सब समुद्र (सम् सम्) अत्यन्त अनुकूल  
(स्रवन्तु) बहें, (वाताः) विविध प्रकार के पवन और (पतत्रिणाः) पक्षी  
(सम् सम्) बहुत अनुकूल बहें । (प्रदिवः) बड़े तेजस्वी विद्वान् लोग (इमम्)  
इस (मे) मेरे (यज्ञम्) सत्कार को (जुषन्ताम्) स्वीकार करें, (संस्त्राव्येण)  
बहुत आर्द्रभाव [ कोमलता ] से भरी हुयी (हविषा) भक्ति के साथ [उनको]  
(जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि नौका आदि से समुद्रयात्रा को, विमान  
आदि से वायुमण्डल में जाने आने के मार्गों को, और यथा योग्य व्यवहार से

१—सम् सम् । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निर्द० १० । ४२ । अत्यन्त-  
सम्यक्, अत्यनुकूलाः । स्रवन्तु । स्रु गतौ, स्रवणे च-लोट् । गच्छन्तु, प्रव-  
हन्तु । सिन्धवः । १ । ४ । ३ । स्यन्दनशीलाः । समुद्राः । स्त्रियां, नद्यः ।  
सम् = संस्रवन्तु । उपसर्गवशात् स्रवन्तु इति सर्वत्र अनुषज्यते । अनुकूलाः  
प्रवर्तन्ताम् । वाताः । १ । ११ । ६ । विविधपवनाः । सम् । सम्यग् अनुकू-  
लाश्चरन्तु । पतत्रिणाः । पतत्रं पक्षः । अत इतिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ ।  
इति पतत्र-इति मत्वर्थे । पक्षिणाः । इमम् । प्रवृत्तमानम् । यज्ञम् । १ । ६ ।  
४ । यागं विदुषां पूजनम् । प्र-दिवः । प्र + दिव् द्युतिस्तुतिगत्यादिषु-क्लिप् ।  
प्रकृष्टप्रकाशाः, देवाः, विद्वांसः । जुषन्ताम् । जुषी प्रीतिसेवनयोः-लोट् ।  
सेवन्ताम्, स्वीकुर्वन्तु । सम्-स्राव्येण । स्रु गतौ-ण । तस्येदम् । पा० ४ ।

पक्षी आदि सब जीवों को अनुकूल रखें, और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लें। और विद्वानों में पूर्ण प्रीति और श्रद्धा रखें जिससे वह भी उत्साह पूर्वक बर्ताव करें ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्त्रावणा उतेमं वर्धयता  
गिरः । इ हैतु सर्वा यः पशुस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥२॥

इह । एव । हवस् । आ । यात । मे । इह । सम्-स्त्रावणाः ।  
उत । इह । वर्धयत । गिरः । इह । आ । एतु । सर्वः । यः ।  
पशुः । अस्मिन् । तिष्ठतु । या । रयिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(संस्त्रावणाः) हे बहुत आर्द्रभाववाले [बड़े कोमल स्वभाव] (गिरः) स्तुति योग्य विद्वानां ! (इह) यहाँ पर (इह) यहाँ पर (एतु) ही (मे) मेरे (हवस्) आवाहन को (आयात) तुम पहुंचो, (उत) और (स्मम्) इस पुरुष को (वर्धयत) बढ़ाओ । (यः सर्वः पशुः) जो प्रत्येक जीव है [वह] (इह) यहाँ (एतु) आवे और (या रयिः) जो लक्ष्मी है [वह भी सब] (अस्मिन्) इस पुरुष में (तिष्ठतु) ठहरी रहे ॥ २ ॥

३ । १२० । इति संस्त्राव-यत् । यद्वा । अचोयत् । पा० । ३ । १ । ६७ । इति सम् + स्तु-णिच्-यत् । संस्त्रावेण सम्यक् स्त्रवणेन आर्द्रभावेन युक्तेन । हविषा । १ । ४ । ३ । आत्मदानेन, भक्त्या । जुहोमि । इ दानादानादनेषु-लट् । अहम् आददे, स्वीकरोमि तान् प्रदिवः ॥

२—हवस् । भावेऽनुपसर्गस्य । पा० ३ । ३ । ७५ । इति हव् आदाने, स्पर्धे च—ह्व् । आहानम्, आवाहनम् । आ + यात् । या गतौ-लोट् । आगच्छत । इह । कित्त्ववीप्सजोः । पा० ८ । १ । ४ । इति वीप्सायां इह शब्दस्य द्विर्वचनम् । अस्मिन्नेव यज्ञे । सम्-स्त्रावणाः । स्तु स्त्रवणे गतौ-णिच्-ल्युट् । युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अन आदेशः । अर्श अदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । हे संस्त्रावेण सम्यक् स्त्रवणेन, अर्थाद्भावेन युक्ताः । इमम् । उपस्थितं माम् । वर्धयत । वृधु वृद्धौ णिच्-लोट्, छन्दसि दीर्घः ।

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्या के बल से संसार की उन्नति करते हैं, इससे मनुष्य विद्वानों का सत्संग पाकर सदा अपनी वृद्धि करें और उपकारी जीवों और धन का उपार्जन पूर्ण शक्ति से करते रहें ॥

टिप्पणी—पशु शब्द जीव वाची है, अथर्ववेद का० २ सू० ३४ म० १ ॥

य ईशे पशुपतिः पशुनां चतुष्पदासुत यो द्वि पदाम् ॥ १ ॥

जो ( पशुपतिः ) जीवों का स्वामी चौपाये और जो दो पाये ( पशुनाम् ) जीवों का ( ईशे = ईश्टे ) राजा है ॥ १ ॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदुमक्षिताः ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं संस्रावयामसि ॥ ३ ॥

ये । नदीनाम् । सुन्-स्रवन्ति । उत्सासः । सदम् । अक्षिताः ।

तेभिः । मे । सर्वैः । सुस्-स्रावैः । धनम् । सम् । स्रावयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( नदीनाम् ) नाद करनेवाली नदियों के ( ये ) जो ( अक्षिताः ) अक्षय ( उत्सासः ) सोते ( सदम् ) सर्वदा ( संस्रवन्ति ) मिलकर बढ़ते हैं । ( तेभिः सर्वैः ) उन सब ( संस्रावैः ) जल प्रवाहों के साथ ( मे ) अपने ( धनम् ) धनको ( सम् ) उत्तम रीति से ( स्रावयामसि ) हम व्यय करें ॥ ३ ॥

समर्धयत । गिरः । शृणातिः स्तुतिकर्मा-निरु० ३ । ५ । अर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । गृ शब्दे—कर्मणि क्तिप् । गीर्यन्ते स्तूयन्त इति गिरः । हे अर्चनीयाः स्तुत्याः पुरुषाः । आ+एतु । आगच्छतु । पशुः । अर्जिष्टशिकम्यमि० । उ० १ । २७ । इति हशिर्प्रेक्षणं—कु, पश्यादेशः । पशुः पश्यते—निरु० ३ । १६ । प्राणिमात्रम्, जीवः । अथवा । गवाश्वगजादिरूपः । अस्मिन् । मयि, मदीये आत्मनि । तिष्ठतु । निवसतु । रयिः । अच इः । उ० ४ । १३६ । इति रीङ् गती-इ प्रत्ययः । शुणः । यद्वा । रा दानग्रहणयोः-इ प्रत्ययः, युगागमो धातो-ईस्वश्च । धनम् ॥ २ ॥

३—नदीनाम् । १ । ८ । १ । नदनशीलानां सरिताम्, सरस्वतीनाम् ।

सम्-स्रवन्ति । सम्भूय प्रवहन्ति । उत्सासः । उन्दिगुधिकपिभ्यश्च । उ०

भावार्थ—जैसे पर्वतों पर जल के सोते मिलने से वेगवती और उपकारिणी नदियाँ बनती हैं जो ग्रीष्मऋतु में भी नहीं सूखती, इसी प्रकार हम सब मिलकर विज्ञान और उत्साह पूर्वक तडित्, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेकर अक्षयधन बढ़ावें । और उसे उत्तम कर्मों में व्यय करें ॥ ३ ॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्त्रावैर्धनं सं स्त्रावयामसि ॥ ४ ॥

ये । सर्पिषः । सुम्-स्रवन्ति । क्षीरस्य । च । उदकस्य । च ।  
तेभिः । मे । सर्वैः । सुम्-स्त्रावैः । धनम् । सम् । स्त्रावया मसि ॥४॥

भाषार्थ—(सर्पिषः) घृत की (च) और (क्षीरस्य) दूध की (च) और (उदकस्य) जलकी (ये) जो धारायें (संस्रवन्ति) मिलकर वह चलती हैं । (तैः सर्वैः) उन सब (संस्त्रावैः) धाराओं के साथ (मे) अपने (धनम्) धनको ( सम् ) उत्तम रीति से ( स्त्रावयामसि ) हम व्यय करें ॥ ४ ॥

३ । ६८ । इति उन्दी क्लेदे—स प्रत्ययः । आज्ञसेरसुक् । पा० । ७ । १ । ५० ।  
इति जसि असुक् आगमः । उत्सः कूपनाम-निघ० ३ । २३ । जलस्रवणस्थानानि, स्रोतांसि । सदम् । सर्वदा, ग्रीष्मादावपि । अक्षिताः । क्षि क्षये-क्त । अक्षीणाः । तेभिः । बहुलंछन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति मिस ऐसभावः । तैः । मे । मम = अस्माकम् । एकवचनं बहुवचने । सुम्-स्त्रावैः । श्याऽऽद्य-धासुसंस्त्रतीण० । पा० ३ । १ । १४१ । इति सम्+सु स्रवणे-णप्रत्ययः । अचो ङिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । प्रवाहैः । धनम् । धन धान्ये—अच यद्वा, कृपृवृजिमन्दिनिधाजः क्युः । उ० २ । ८१ । इति दुधाञ् धारणपोषणयोः क्यु । वित्तम्, सम्पदम् । स्त्रावयामसि । स्रु स्रवणे-णिचि लट्, इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । स्त्रावयामः, प्रवाहयामः, व्ययं कुर्मः ॥

४—ये । संस्त्रावाः प्रवाहाः । सर्पिषः । अर्चिशुचिहुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति स्रुप गतौ = सर्पणे-इसि । सर्पणशीलस्य द्रवणस्वभावस्य घृतस्य । क्षीरस्य—घसेः किञ्च । उ० ४।३४ । इति घस = अद भक्षणे-ईरन्, उपधालोपे कत्वं षत्वं च । दुग्धस्य । उदकस्य-उदकं च । उ० २ । ३६ । इति उन्दी

भावार्थ—जैसे घी, दूध और जल की बूंद बूंद मितकर धारें बंध जाती और उपकारी होती हैं, इसी प्रकार हम लोग उद्योग करके थोड़ा थोड़ा संचय करने से बहुत सा विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके उत्तम कामों में व्यय करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—३ ॥ १ अग्निः, २ वरुणाग्नीन्द्राः, ३—४ सीसं देवता ।

अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननाशनोपदेशः—विघ्न के नाश का उपदेश ॥

येऽमावास्यां ३' रात्रिमुदस्थु' ब्राजमुत्त्रिणः ।

अग्निस्तुरीयो यातुहा सः अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ १ ॥

ये। अमा-वास्याम् । रात्रिम् । उ-त्-अस्थुः । ब्राजम् । अत्त्रिणः ।

अग्निः । तुरीयः । यातु-हा । सः । अस्मभ्यम् । अधि । ब्र-वत् ॥१॥

भावार्थ—(ये) वे जो (अत्रिणः) उदर पोषक [ खाऊ लोग ] ( अमावा-स्याम् ) अमावसी में ( रात्रिम् ) विश्राम देने वाली रात्रि को ( ब्राजम् ) गोशालाओं पर [ अथवा समूह के समूह ] ( उदस्थुः ) चढ़ आये हैं। ( सः ) वह ( तुरीयः ) वेगवान् ( यातुहा ) राजाओं का नाश करने वाला ( अग्निः ) अग्नि [ अग्नि सद्यश् तेजस्वी राजा ] ( अस्मभ्यम् ) हमारे हित के लिये ( अधि ) [ उन पर ] अधिकार जमा कर ( ब्रवत् ) घोषणा दे ॥ १ ॥

क्लेदने-कुन् युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अकादेशः । जलस्य । अन्यद् व्याख्यातं म० ॥ ३ ॥

१—अमा-वास्याम् । अमा + वस निवासे-घञ् । अमा साहित्येन चन्द्रार्कयोर्वासो यत्र । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । उदा-त्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । अमा-वस्यायां रात्रौ, महान्धकारे । रात्रिम् । राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । इति रा दानग्रहणयोः-त्रिप्, ददाति विश्रामं, गृह्णाति श्रमं च । कालाध्वनोरत्यम्त-

भाष्यार्थ—जो दुष्ट जन अन्धेरी रातों में भोशाला आदि पर धावा करके प्रजा को सत्तावें तो प्रतापी राजा ऐसे राजसों से रक्षा करके राज्य भर में शान्ति फैलावे ॥ १ ॥

सीसायाध्याहु वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।

सीसं मु इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥

सीसाय । अधि । आहु । वरुणः । सीसाय । अग्निः । उप । अवति ।  
सीसम् । मे । इन्द्रः । प्र । अयच्छत् । तत् । अङ्ग । यातु-चातनम् ॥२॥

भाष्यार्थ—( वरुणः ) चाहने योग्य, समुद्रादि का जल ( सीसाय ) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति ] के लिये ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( आहु ) कहता है, ( अग्निः ) व्यापक, सूर्य, विज्रुली आदि अग्नि ( सीसाय ) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ ब्रह्मज्ञान ] के लिये ( उप ) समीप रह कर ( अवति ) रक्षा करता है । ( इन्द्रः ) महा प्रतापी परमेश्वर ने ( सीसम् ) बन्धन काटने वाला. सामर्थ्य [ ब्रह्मज्ञान ] ( मे ) मुझ को ( प्र-अयच्छत् ) दिया है, ( अङ्ग ) हे भाई ( तत् ) वह सामर्थ्य ( यातुचातनम् ) पीड़नाशक है ॥२॥

संयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । रजनीम् । निशाकाले । उत-अस्थुः ।  
ष्टा गतिनिवृत्तौ-लुङ् । उत्थितवन्तः, संचरणं कृतवन्तः । ब्राजम् । तस्य  
समूहः पा० ४ । २ । ३७ । इति ब्रज-अण् समूहे, नपुंसकत्वम् । गोष्ठसमूहम् ।  
अथवा । क्रिया विशेषणम् । ब्रजः = समूहः-अण् । अतिसमूहेन । अत्रिणः ।  
१ । ७ । ३ । अदनशीलाः, स्वार्थिनः, उदरपोषकाः । अग्निः । १ । ६ । २ ।  
अग्निवत् तेजस्वी राजा । तुरीयः । तुरो वेगः । घञ्छौ च । पा० ४ । ४ ।  
११७ । इति तुर-ङ् प्रत्ययः, तत्रभव इत्यर्थे । वेगवान् । यातुहा । कृवापा-  
जिमि० उ० १ । १ । इति यत् ताङ्ने - उण् । यातयतीति यातुः, राजसः ।  
बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । म् । इति यातूपपदे हन हिंसागत्योः—क्विप् ।  
राजसघातकः । दुष्टनाशकः । अधि । अधिकृत्य, स्वामित्वेन । ब्रधत् ।  
ब्रून् व्यक्तायां वाचि—लेट् । ब्रूयात् ॥

२—सीसाय । षिञ् बन्धने-क्विप् + पो नाशने-क । पृषोदरादित्वात् तुक लोपे दीर्घः । सीं सितं बन्धं प्रतिबन्धं स्यति नाशयतीति सीसम् । प्रतिबन्धस्य



भावार्थ—जल, अग्नि, वायु, आदि पदार्थ ईश्वर की आज्ञा से परस्पर मिलकर हमारे लिये बाहिर और भीतर से उपकारी होते हैं । वह ब्रह्मज्ञान प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी को परमेश्वर ने दिया है उस ज्ञान को साक्षात् करके प्राणी दुःखों से छूट कर शारीरिक, आत्मिक और समाजिक आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—( सीस ) शब्द का धात्वर्थ [ पिञ् वांधना—क्विप्+पो नाश करना—कप्रत्यय] बन्धन का काटने वाला है । लोक में वस्तु विशेष, सीसा को कहते हैं । सायण भाष्य में ( सीस ) का अर्थ “ नदी के फेन आदि रूप द्रव्य” और त्रिफु फिथ साहिव ने ( lead ) सीसा धातु विशेष किया है ॥

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणाः ।

अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥ ३ ॥

इदम् । वि-स्कन्धम् । सह ते । इदम् । बाधते । अत्त्रिणाः ।

अनेन । विश्वा । ससहे । या । जातानि । पिशाच्याः ॥ ३ ॥

भावार्थ—( इदम् ) यह [सामर्थ्य] ( विष्कन्धम् ) विघ्न को ( सहते ) जीतता है । और ( इदम् ) यह ( अत्त्रिणाः ) उदर पोषक खाउओं को ( बाधते ) हटाता है । ( अनेन ) इससे ( विश्वा=विश्वानि ) उन सब दुःखों को ( ससहे ) में

विघ्नस्य नाशकसामर्थ्याय । ब्रह्मज्ञानप्राप्तये । अधि । अधिकारेण । आह ।  
ग्रञ् व्यक्तायां वान्नि-लट् । प्रवीति । वरुणः । १ । ३ । ३ । वरुणीयं समुद्रादि-  
ललम् । अग्निः । १ । ६ । २ । व्यापकः । सूर्यविद्युदादिरूपोऽग्निः । उप ।  
उपेत्य । अवति । रक्षति । व्याप्नोति । इन्द्रः । १ । २ । ३ । महाप्रतापी पर-  
मेश्वरः । प्र-अयच्छत् । पात्राध्मास्थाम्नादाण् । पा० ७ । ३ । ७८ । इति  
दाण् दाने-यच्छादेशः-लङ् । प्रादात् । तत् । निर्दिष्टं सीसम् । अङ्ग ।  
सम्योधने । हे सखे । यातु-चातनम् । कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । यत्  
ताडने-उण् । चातयति नाशने-निरु० ६ । ३० । पीडानाशकम् । राक्षसनाशकम् ॥

३-इदम् । सीसम् । विस्कन्धम् । वि विकारे+स्कन्दिर् गतिशोपणयोः-  
अच् । वस्य धः । वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् । प० ८ । ३ । ७३ । इति पतवम् यद्वा,

जीतता हं ( या=यानि ) जो ( पिशाच्याः ) मांस खाने हारी [कुवासना] से ( जातानि ) उत्पन्न हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम ज्ञान के सामर्थ्य से अपने क्रोधों के कारण को जानते और कुवासनाओं के कुसंस्कारों को अपने हृदय में नहीं जमने देते ॥ ३ ॥

भगवान् पतञ्जलि जी ने कहा है— योगदर्शन पाद २ सूत्र १६ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥

न आया हुआ [ परन्तु आने वाला ] दुःख हटाना चाहिये ॥

यदि नो गां हंसि यदश्वं यदि पूरुषम् ।

तं त्वा सीसेन विध्याभो यथा नोऽसो अवीरहा ॥४॥

यदि । नः । गाम् । हंसि । यदि । अश्वम् । यदि । पूरुषम् ।

तम् । त्वा । सीसेन । विध्याभः । यथा । नः । असः । अवीर-हा ॥४॥

भाषार्थ—(यदि) जो (नः) हमारी ( गाम् ) गाय को, (यदि) जो ( अश्वम् )

विष्क हिंसायाम्-क + घाञ्-ड । हिंसां दधातीति । विशेषेण शोषकम् । विघ्नम् वहते । पह अभिभवे । अभिभवति जयति । वाधते । वाध प्रतिबन्धे प्रति-रोधे-लट् । प्रतिवध्नाति, निवारयति । अरिचयाः । म० १ । अदनस्वभावात् राक्षसान् । अनेन । सीसेन । ससहे । बहुलं हृन्दसि । पा० २ । ४ । ७६ । इति पह अभिभवे लटि शपः श्लुः । अहम् अभिभवामि । जातानि । जनी प्रादुर्भावे-कर्त्तरि क् । उत्पन्नानि । अपत्यरूपाणि दुष्टाचरानि । पिशाच्याः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित + अश भक्षणे-अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०६ । इति रूपसिद्धिः । पिशितं मांसमश्नातीति पिशाचः । अथवा । इगपुत्रज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति पिश अवयवे-क । इति पिशः पिशितम् । पुनः । पिश + आङ् + चम भक्षणे-ङ प्रत्ययः । पिशं पिशितं मांसम् आचमति सम्यग् भक्षयतीति पि । चः । प्राणिनां मांसभक्षी पिशिताशी । ततो ङीप् । मांसभक्षिण्याः । राक्षसीरूपायाः कुवासनायाः ॥

४--यदि । संभावनायाम् । चेत् । गाम् । १।२।३ । गोजातिम् । हंसि ।

घाड़े को और (यदि)जो (पुरुषम्)पुरुष को (हंसि)तू मारता है । (तम् त्वा) उस तुझको(सीसेन)बन्धन काटनेहारे सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] से (विध्यामः)हम वेधते हैं (यथा) जिस से तू (नः) हमारे (अवीरहा असः) वीरों का नाश करने हारा न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वर्तमान क्लेशों को देखकर आने वाली क्लेशों को यत्न पूर्वक रोककर आनन्द भोगें ॥४॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥



हन हिंसागत्योः-लट् । मारयसि । नाशयसि । अश्वम् । अश्वप्रुषि लटि० । उ० १ । १५१ । इति अशब्द् व्याप्तौ-क्वन् । यद्वा,अश भोजने-क्वन् । अश्वः कस्माद्-ध्रुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति-निरु० २ । २७ । जातावेकध्वचनम् । घोटम् । तुरङ्गम् । पुरुषम् । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगतौ-कुषन् । अन्येषामपि दृश्यते । पा०६। ३ । १३७ । इति निपातनाद् दीर्घः । पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः । नरं, जनम् । तम् । तथाविधम् । त्वा । त्वां हिंसकम् । सीसेन । म० २ । विघ्ननाशकसामर्थ्येन, ब्रह्मज्ञानेन । विध्यामः । व्यध ताडने वेधे-दिवादित्वात् श्यन् । ग्रहिज्यावयिव्यधि० । पा० ६ । १ । १६ । इति संप्रसारणम् । छिनन्नः । ताडयामः, मारयामः । यथा । येन प्रकारेण । असः । अस सत्तायाम्-लेटि अडागमः । त्वम् भूयाः । अवीर-हा । वीरयतीति वीरः, वीर शौच्ये-अच् । वीरान् हन्तीति वीरहा, वीर + हन्-क्विप् । न वीरहा अवीरहा । अश्वरहन्ता ॥

## अथ चतुर्थोऽनुवाकः ।

सूक्तम् १७ ॥

१—४ हिरा देवता । १—३ अनुष्टुप् ४ गायत्री छन्दः ॥

नाडीछेदनदृष्टान्तेन कुवासनानाशः—नाडीछेदन [ फसद् गोलने ] के दृष्टान्त से दुर्वासनाओं के नाश का उपदेश ॥

अमूर्या यन्ति' योपितो' हिरा लोहितवाससः ।

अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हुतवर्चसः ॥ १ ॥

अमूः । या । यन्ति' । योपितः' । हिराः । लोहित-वाससः ।

अभ्रातरः—इव । जामयः' । तिष्ठन्तु । हुत-वर्चसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वे (याः) जो (योपितः) सेवा योग्य वा सेवा करने वाली [ अथवा स्त्रियों के समान हितकारी ] (लोहितवाससः) लोह में ढकी हुयी (हिराः) नाड़ियाँ (यन्ति) चलती हैं, वे, (अभ्रातरः) बिना भाइयों की (जामयःइव) बहिनों के समान, (हुतवर्चसः) निस्तेज होकर (तिष्ठन्तु) ठहर जायें॥१॥

१—अमूः।१।४।२। ताः परिदृश्यमानाः । यन्ति । गच्छन्ति योपितः। हस्तुरुहियुपिभ्य इतिः । उ० १। ६७ । युप सेवने—इति, अयं सौत्रो धातुः । योषति सेवते युष्यते सेव्यते वा सा योपित् । सेवविड्वः । सेव्याः, । स्त्रियः । हिराः । स्फायितञ्चिश्चि० । उ० २। १३ । इति हि वर्धने गतौ च—रक् टाप् । हिनोति वर्धयति वा गच्छति व्याप्नोति शरीररुधिरादिकमिति हिरा, नाडी । सिराः, नाड्यः । लोहित-वाससः । वसेरित् । उ० ४। २६८ । इति लोहित + वस आच्छादने, असुन् । शिद्वद्भावाद् उपधावृद्धिः । रुधिरस्य आच्छा-

भाष्यार्थ—इस सूक्त में सिराछेदन, अर्थात् नाड़ी [ फ़सद् ] खोलने का वर्णन है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि नाड़ियां रुधिर संचार का मार्ग होने से शरीर की (योपितः) सेवा करने हारी और सेवा योग्य हैं। जब किसी रोग के कारण वैद्य राज नाड़ी छेदन करे और रुधिर निकलने से रोग बढ़ाने में नाड़ियां ऐसी असमर्थ हो जायें जैसे माता पिता और भाइयों के बिना कन्यायें असहाय हो जाती हैं, तब नाड़ियों को रुधिर दहने से रोक दे।

२—मनुष्य के सब कार्य कुकामनाओं को रोक कर मर्यादापूर्वक करने से सुफल होते हैं ॥ १ ॥

तिष्ठावरे तिष्ठं पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे ।

कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद् धुमनिर्मही ॥ २ ॥

तिष्ठं । अवरे । तिष्ठं । परे । उत । त्वम् । तिष्ठ । मध्यमे ।  
कनिष्ठिका । च । तिष्ठति । तिष्ठात् । इत् । धुमनिः । मुही ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(अवरे) हे नीचे की [नाड़ी] (तिष्ठ) तू ठहर, (परे) हे ऊपर वाली (तिष्ठ) तू ठहर, (उत) और (मध्यमे) हे बीच वाली (त्वम्) तू (तिष्ठ)

दनभूताः । रक्तवर्णवस्त्राः । अभ्रातरः । नप्तृत्वण्टृ ० । उ० २ । ६६ । इति  
भ्राजृ दीप्तौ-तृन्, निपात्यते । अभ्रातृकाः, सहादररहिताः, असहायाः इत्यर्थः ।  
जामयः । १ । ४ । १ । भगिन्यः । तिष्ठन्तु । स्थिता निवृत्तगतयो भवन्तु ।  
हत-वर्चसः । सर्व धातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति वर्च दीप्तौ-असुन् ।  
हततेजस्काः, नष्टवीर्याः । रोगोत्पादने असमर्थाः ॥

२—तिष्ठ । निवृत्तगतिर्भव । अवरे । १ । ८ । ३ । अवरे-टाप् । हे निकृष्टे ।  
अधोभागस्थिते हिरे । परे । १ । ८ । ३ । हे श्रेष्ठे, ऊर्ध्वाङ्गवर्तिनि । त्वम् ।  
हिरे, सिरे । मध्यमे । मध्यान्मः । पा० ४ । ३ । ८ । मध्य-म प्रत्ययो भवार्थे ।  
हे शरीरमव्यवर्तिनि । कनिष्ठिका । युवाल्पयोः कन् अन्यतरस्याम् ।  
पा० ५ । ३ । ६४ । इति अल्प-इष्ठनि कन् आदेशः । स्वार्थे क प्रत्ययः । प्रत्ययस्थात्  
कात् पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । इति इत्वं टापि परतः ।

ठहर, (च) और (कनिष्ठिका) अति छांटी नाड़ी (तिष्ठति) ठहरती हैं, (मही) बड़ी (धमनिः) नाड़ी (इत्) भी (तिष्ठात्) ठहर जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—१-चिकित्सक सावधानी से सब नाड़ियों को अधिक रुधिर बहने से रोक देवे ॥

२-मनुष्य अपने चित्तकी वृत्तियों को ध्यान देकर कुमार्ग से हटावे, और हड़बड़ी करके अपने कर्तव्य को न बिगड़ने दे किन्तु यत्न पूर्वक सिद्ध करे ॥२॥

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।

अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥

शतस्य । धमनीनाम् । सहस्रस्य । हिराणाम् ।

अस्थुः । इत् । मध्यमाः । इमाः । साकम् । अन्ताः । अरंसत ॥३॥

भाषार्थ—( शतस्य धमनीनाम् ) सौ प्रधान नाड़ियों में से और ( सहस्रस्य हिराणाम् ) सहस्र शाखा नाड़ियों में से ( इमाः ) ये सब ( मध्यमाः ) बीच वाली (इत्)भी (अस्थुः) ठहर गयीं, (अन्ताः) अन्त की [अवशिष्ट नाड़ियां] ( साकम् ) एक साथ ( अरंसत ) फोड़ा करने लगीं हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सिरा छेदन से अमंज्य धमनी और सिरा नाड़ियों का रुधिर यथाविधि चिकित्सक निकाल कर बन्ध कर देवे कि नाड़ियां पहिले के समान चेष्टा करने लगें ॥

अल्पतमा, सूक्ष्मतरा नाड़ी । तिष्ठात् । ष्टा गतिनिवृत्तौ-लेट् । लेटोऽडाटौ । पा०३। ४ । ६४ । इति आडागमः । अवतिष्ठताम् । धमनिः । अर्त्तिः सृष्टधमि० । उ० २ । १० २ । इति धम ध्माने, ध्वाने च-अनि । सिरा, नाड़ी । सही । मह पूजायाम्-अच् । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति डीप् । महती, वृहती स्थूला ॥

३-शतस्य ।—शतसंख्यानां अपरिमितानाम् । धमनीनाम् । म० २ । हृदयगतानां प्रधान नाड़ीनाम् । सहस्रस्य । अपरिमितानाम् । हिराणाम् । म० १ । सिराणाम् । सूक्ष्मशाखानाडीनाम् । अस्थुः । १।१६। स्थिता अभूवन्,

२-मनुष्य अपनी अनन्त चित्त वृत्तियों को कुमार्ग से रोक कर सुमार्ग में चलावें ॥ २ ॥

परि वः सिकतावती धनूवृहृत्यक्रमीत् ।  
तिष्ठने लयता सु कम् ॥ ४ ॥

परि । वः । सिकता-वती । धनूः । बृहती । अक्रमीत् ।  
तिष्ठत । इलयत । सु । कम् ।

भाषार्थ—(सिकतावती) सेचन स्वभाव [कोमल रखने वाली] बालू आदि से भरी हुई (वृहती) बड़ी धनूः पट्टी ने (वः) तुम [नाड़ियों] को (परि अक्रमीत्) लपेट लिया है । (तिष्ठत) ठहर जाओ, (सु) अच्छे प्रकार (कम्) सुख से (इलयत) चलो ॥ ४ ॥

भावार्थ, १—(धनूः) अर्थात् धनु चार हाथ परिमाण को कहते हैं । इसी प्रकार की पट्टी से जो सूक्ष्म चूर्ण बालू से वा बालू के समान राल आदि औषध से युक्त होवे चिकित्सक घ्राव को बांध देवे कि रक्त बहने से ठहर जाये और घ्राव पुरकर सब नाड़ियां यथा नियम चलने लगें, मन प्रसन्न और शरीर पुष्ट हो ।

मध्यमाः । म० २ । मध्यभवाः । साकम् । युगपत् । अन्ताः । अम गतौ-तन् । अन्तिमाः, अवशिष्टाः सर्वा नाड्यः । अरंसत । रमु कीड़ायाम्-लुङ्, यथापूर्वं रमन्ते स्म, चेष्टां कृतवन्त्यः ॥

४-वः । युष्मान्, नाड़ीः । सिकतावती । पृथिवीभ्यां कित् । उ०३। १११ । इति सिक सेचने-अतच् .टाप् । सेचनवती, कोमलस्वभावयुक्ता । बालुयुक्ता । धनूः । कृपिचमितनिधनिसर्जिलर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम् । उ०१।८० । इति धन ध्रान्योत्पादने, रवे च-ऊ । धनुः = चतुर्हस्तपरिमाणम् । तत्परिमाणवस्त्र-पट्टी । बृहती । वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छनुवच्च । उ० २ । ८४ । इति बृह बृहती-अति । डीप् । महती । अक्रमीत् । क्रमु पादविक्षेपे-लुङ् । का-

२—मनुष्य कुमार्ग गामिनी मनो वृत्तियों को गोक कर यज्ञ पूर्वक हानि पूरी करे, और लाभ के साथ अपनी वृद्धि करे और आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—४ ॥ सविता देवता । १, ४ अनुष्टुप्, २,३ जगती ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के लिये धर्म का उपदेश ॥

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं १' निररातिं सुवामसि ।

अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥१॥

निः । लक्ष्म्यं । ललाम्यं । निः । अरातिम् । सुवामसि । अथ ।

या । भद्रा । तानि । नः । प्र-जायै । अरातिम् । नयामसि ॥१॥

भाषार्थ—(ललाम्यम्=०—मीम्) [धर्म से) रुचि हटाने वाली (निर्लक्ष्म्यम्=०--क्षमीम्) अलक्ष्मी [निर्धनता] और (अरातिम्) शत्रुता को (निः सुवामसि=०-मः) हम निकाल देवें । (अथ) और (या=यानि) जो (भद्रा=भद्राणि) मंगल हैं (तानि) उनको (नः) अपनी (प्रजायै) प्रजाके लिये (अरातिम्) सुख न देने हारे शत्रु से (नयामसि=०-मः) हम लावें ॥ १ ॥

न्तवती, व्यासषती । तिष्ठत । निवृत्तगतयो भवत । इलयत । इल गतौ ।

गच्छत, चेष्टध्वम् । कम् । सुखेन ॥

१—निः+लक्ष्म्यम् । नृ नये-क्विप् । ऋत इच्छातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति धातोरङ्गस्य इत् । इति निर् । लक्ष्मेर्मुट् च । उ०३।१६०। इति लक्ष् दर्शनाङ्ग-नयोः-ईप्रत्ययो मुडागमः । लक्ष्यते दृश्यते सा लक्ष्मीः । वा छन्दसि । पा० ६ । १।१०६। इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यराचि । पा० ६।१। ७७। इति यण् आदेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० २।२।४। इति यणः परतोऽनुदात्तस्य स्वरितत्वम् । निर्लक्ष्मीम्, अलक्ष्मीम्, निर्धनताम्, दर्भाग्यताम् । ललाम्यम् । लल ईप्से-अच् । ततः । अचित्स्तृतन्निभ्य ईः । उ०३।१५८ । इति चाटु-लकात्, अम रोगे, पीडने-ईप्रत्ययः । ललम् इच्छां शुभसचिं आमयति नाशय-



भावार्थ—राजा अपने औरप्रजा की निर्धनता आदि दुर्लक्ष्यों को मिटावे और शत्रु को दण्ड देकर प्रजा में आनन्द फैलावे ॥ १ ॥

सायण भाष्यमें (लक्ष्म्यम्) के स्थान में [लक्ष्मम्] पाठ है ॥ १ ॥

निररणिं सविता साविपत् पृदोर्निहस्तयोर्वरुणो  
मित्रो अर्यमा । निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां  
हे वा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥

निः । अरणिम् । सविता । साविषत् । पृदोः । निः । हस्तयोः ।  
वरुणः । मित्रः । अर्यमा । निः । अस्मभ्यम् । अनु-मतिः ।  
रराणा । प्र । इमाम् । देवाः । असाविषुः । सौभगाय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सविता) [सव का चलाने हारा], सूर्य [सूर्य रूप तेजस्वी],  
(वरुणः) सव के चाहने योग्य जल [जल समान शान्त स्वभाव], (मित्रः) चेष्टा

तीति ललामीः । पूर्ववत् यण् स्वरित्वं च । ललामीम्, शुभरुचिनाशिनीम् ।  
निर् । नृ नयने-किप्, न दीर्घः । अत इडातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति  
इकारः । पहिभावे । निश्चये । अरातिम् । क्तिचत्कौ च संज्ञायाम् । पा० ३ ।  
३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । यद्वा, रा-क्तिन् । न राति ददाति सुखम्, नञ्-  
समासः । सुखस्य अदातारम् शत्रुम् । शत्रुताम्, दुष्टताम् । निः+सुवामसि ।  
पू प्रेरणे, तुदादिः-लट् । मस इदन्तत्वम् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ ।  
इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । निःसुवामः, निःसारयामः । अथ । अनन्तरम् ।  
भद्रा । ऋजेन्द्राग्रवज्र० । उ०२ । २८ । इति भदि कल्याणे-रन् । निपात्यते च ।  
भद्राणि, मङ्गलानि । तानि । उदीरितानि भद्राणि । नः । अस्माकम्, स्वकीया-  
श्चै । प्र-जायै । उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा० ३ । २ । ६६ । इति जनी प्रादुभावे-  
ड प्रत्ययः । जनाय । अरातिम् । शत्रुम् । शत्रुसकाशात् । नयामसि । णीञ्  
प्रापणे, द्विकर्मकः । मस इदन्तत्वम् । प्रापयामः ॥

२—निर् । म० १ । निश्चयेन । नितराम् । वहिभावे । अरणिम् ।  
अर्त्तिमृधु० । उ०२ । १०२ । ऋ हिंसने-अनि । अर्त्तिम्, पीडाम् । सविता ।

देने हारा वायु [वायु समान वेगवान् उपकारी], (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने हारा न्याय कारी राजा (अरणिम्) पीड़ा को (पदोः) दोनों पदों और (हस्तयोः) दोनों हाथों से (निः) निरन्तर ( निः साविपत् ) निकाल देवे । (रराणा) दान-शीला (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (निः = निः साविपत्) [पीड़ा को] निकाल देवे, (देवाः) उदार चित्त वाले महात्माओं ने (इमाम्) इस [अनुकूल बुद्धि] को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (प्र असाविपुः) भेजा है ॥२॥

**भावार्थ**—मन्त्रोक्त शुभ लक्षणों वाला राजा और प्रजा परस्पर हित-बुद्धि से और शुभचिन्तक महात्माओं के सहाय से क्लेशों का नाश करके सब का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ २ ॥

**टिप्पणी**—सायण भाष्य में (अरणिम्) के स्थान में [अग्नीम्] है और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक में लिखे [साविपक्] के स्थान में सायण भाष्य में और अन्य दोनों पुस्तकों में (साविपत्) पद है, वही पाठ हमने रक्ता है। गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि [साविपक्] शब्द शोधकर लिखा है, परन्तु यह अशुद्ध है क्योंकि अथर्व० ६ । १ । ३ में, ७ । ७७ । ७ में और ६ । १५ । ४ में ( सविता साविपत् ) पाठ है वही ( सविता साविपत् ) यहां भी शुद्ध है ॥

पूञ् प्रसवे प्रेरणे-तृच् । सर्वस्य प्रसविता = उत्पादकः । निरु० १० । १ । सर्व-प्रेरकः सूर्यः । निः+साविषत् । पूञ् प्रेरणे-लेट् । निःसुवतु, निःसारयतु । पदोः । पद्दन्नोमास् ० । पा० ६ । १ । ६३ । इति पाद शब्दस्य पद् आदेशः । पादयोः सकाशात् । हस्तयोः । हसिमृत्रिण्वामि० । उ० ३ । ८६ । इति हस विकासो-तन् । करयोः सकाशात् । वरुणाः । १ । ३ । ३ । वरणीयं जलम् । मित्रः । १ । ३ । ३ । सर्वप्रेरको वायुः । अर्यमा । १ । ११ । १ । अर्यान् श्रेष्ठान् मिर्माते मानयतीति । न्यायकारी राजा । अनु-मतिः । अनु + मन ज्ञाने-किन् । सम्म-तिः । अनुकूला, सहायिका बुद्धिः । रराणा । रा दाने- कानच् । दानशीला । देवाः । पूज्याः, दातारः । प्र+असाविपुः । पूञ् प्रेरणे-लुङ् । प्रेरितवन्तः, दत्तवन्तः । सौभगाय । प्राणभृज्जानिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् । पा० ५ । १ । १२६ । इति सुभग-भावे अञ् । जिनत्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति आद्युदात्तः । सुभगत्वाय, शोभनैश्वर्याय ॥

यत् आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रति चक्षणे  
वा । सर्वं तद्वा चापं हन्मो वयं देवस्त्वा सविता  
सूदयतु ॥ ३ ॥

यत् । त् । आत्मनि । तन्वास् । घोरम् । अस्ति । यत् । वा ।  
केशेषु । प्रति-चक्षणे । वा । सर्वम् । तत् । वाचा । अप ।  
हन्मः । वयम् । देवः । त्वा । सविता । सूदयतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ— [ हे मनुष्य ] ! ( यत् ) जो कुछ ( ने ) तेरे ( आत्मनि ) आत्मा  
में और ( तन्वाम् ) शरीर में ( वा ) अथवा ( यत् ) जो कुछ ( केशेषु ) केशों में  
( वा ) अथवा ( प्रतिचक्षणे ) दृष्टि में ( घोरम् ) भयानक ( अस्ति ) है । ( वयम् )  
हम ( तत् सर्वम् ) उस सबको ( वाचा ) वाणी से [ विद्यावल से ] ( अप )  
हटाकर ( हन्मः ) मिटाये देते हैं । ( देवः ) दिव्य स्वरूप ( सविता ) सर्वप्रेरक  
परमेश्वर ( त्वा ) तुझ को ( सूदयतु ) अंगीकार करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दुर्गुणों और दुर्ल-  
क्षणों को धिदानों के उपदेश और सत्सङ्ग से छोड़ देता है, परमेश्वर उसे अपना  
करके अनेक सामर्थ्य देता और आनन्दित करता है ॥ ३ ॥

३—आत्मनि । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति अत  
सातत्यगमने—मनिण् । अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोतीति आत्मा । स्व-  
भावे. मनसि, जीवे । तन्वास् । १।१।१। शरीरे, देहे । घोरम् । हन्तेरच्  
घुर्च् । उ० ५ । ६४ । इति हन वधे—अच्. घुरादेशः । हन्ति विनाशयतीति ।  
भयंकरं दुर्लक्षणम् । केशेषु । के मस्तके शोते । शीङ् शयने—अच् । अलुक्-  
समासः । अथवा । क्लिशोरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । इति क्लिश उपतापे-  
अन्, ल लोपः । घालेषु, शिरोरुहेषु । प्रति-चक्षणे । चष्टे, पश्यति कर्मा-  
निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् कथने. दर्शने च-करणे ल्युट् । दर्शनसाधने चक्षुषि ।  
वाचा । १।१।१। वाण्या । सरस्वतीद्वारा । विद्याद्वारा । अप । वर्जयित्वा ।  
हन्मः । नाशयामः । वयम् । उपासकाः । त्वा । त्वाम् आत्मानम् ।  
सविता । सर्वप्रेरकः । सर्वपिता परमात्मा । सूदयतु । पूद आश्रुतिहृत्योः-  
लोट्, आश्रुतिरङ्गीकारः आश्रुणोतु, अङ्गीकरोतु ॥

रिश्यपदां वृषदतीं गोषे धां विधुमामुत ।

विलीढ्यं ललाम्यं १ ता अस्मन्नाशयामसि ॥४॥

रिश्य-पदीम् । वृष-दतीम् । गो-से धाम् । वि-धुमाम् । उत ।  
विलीढ्यम् । ललाम्यम् । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( रिश्यपदीम् ) हरिण के समान [ विना जमाये शीघ्र ] पद की चेष्टा, ( वृषदतीम् ) बैल के समान दांत चबाना. ( गोषेधाम् ) बैल की सी चाल, ( उत ) और ( विधुमाम् ) विगड़ी भारी [ धोंकनी ] के समान श्वास क्रिया, ( ललाम्यम्=०-मीम् ) रुचि नाश करने हारी ( विलीढ्यम्=०-ढिम् ) चाटने की बुरी प्रकृति, ( ताः ) इन सब [ कुचेष्टाओं ] को ( अस्मत् ) अपने से ( नाशयामसि=०-मः ) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष मनुष्यस्वभाव से विरुद्ध कुचेष्टाओं को छोड़ कर विद्वानों के सदसङ्ग से सुन्दर स्वभाव बनावें और मनुष्य जन्म को सुफल करके आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में ( रिश्यपदीम् ) के स्थान में ( ऋष्यपदीम् ) पाठ है । और जो ( विलीढ्यम्, ललाम्यम् ) पदों को नपुंसक लिङ्ग माना है वह

४—रिश्य-पदीम् । रिश हिंसे-क्यप् । रिश्यते हिंश्यते—इति रिश्यः। मृगः । पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । पा०५। ४। १३८ । इति पादस्य अन्त्यलोपः । पादोऽन्यतरस्याम् । पा० ४। १। ८ । इति ङीप्, भसंज्ञायां । पादः पत् । पा० ६। ४। १३० । इति पद्भावः । हरिणपदवक्त्रं गतिं कुचेष्टाम् । वृष-दतीम् । अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च । पा०५। ४। १४५ । इति दन्त शब्दस्य दत् आदेशः । षगितश्च । पा० ४। १। ६ । इति ङीप् । वृषदन्तवत् क्रियायुक्तां कुचेष्टाम् । गो-सेधाम् । पिधु गत्याम्—पचाद्यच् । टाप् । वृषभवद् गतिं चेष्टाम् वि-धुमाम् । वि विकृतौ + ध्मा, धम वा, दीर्घश्वासहेतुके शब्दभेदे-अच् । टाप् । विधुमाम् विकृतभस्त्रावत् श्वासक्रियाम् । विलीढ्यम् । वि विकृतौ + लिह आस्त्रादने + क्तिन् । वा छन्दसि । पा० ६। १। १०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा०६। १। ७७ । इति यण् आदेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८। २। ४ । इति यणः परतोऽनुदात्तस्यस्वरितः ।

अशुद्ध है क्योंकि मन्त्र में ( ताः ) स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम होने से ऊपर के सब छह पद स्त्रीलिङ्ग हैं ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ जयन्यायौ । १,२,४ अनुष्टुप् , ३पंक्तिः ।

जयन्यायोपदेशः—जय और न्याय का उपदेश ॥

मा नो विदन् विव्याधनो मो अभिव्याधिना विदन् ।

आराच्छरव्या अस्मद् विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

मा । नः । विदन् । वि-व्याधिनः । मो इति । अभि-व्याधिनः ।

विदन् । आरात् । शरव्याः । अस्मत् । विषूचीः । इन्द्र । पातय ॥४॥

भाषार्थ—(विव्याधिनः) अत्यन्त वेधने हारे शत्रु (नः) हम तक (मा विदन्) न पहुँचें, और (अभिव्याधिनः) चारों ओर से मारने हारे (मो विदन्) कभी न पहुँचें। (इन्द्र) हे परम पेशवर्य वाले राजन् (विषूचीः) सब ओर फैले हुए (शरव्याः) वाले समूहों को (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर (पातय) गिरा ॥१॥

विलोडिम्, विकृतास्वादनचेष्टाम् । ललाम्यम् । म० १ । ललामीम्, रुचि-  
नाशिनीम् । ताः । पूर्वोक्ताः कुचेष्टाः । नाशयामसि । णश अदर्शने—णिच् ।  
मस इदन्तत्वम् । नाशयामः, दूरीकुर्मः ॥

१—नः । अस्मान् । मा+विदन् । विदल्ल लाभे;माङि लुङि । न माङ्-  
योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति अडभावः । मा लभन्ताम्, वि-व्याधिनः ।  
मुप्यजातौ णिनिस्ताच्छ्रील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति वि+व्यधताङने-णिनिः ।  
विशेषेण छेदकाः, धनुर्धराः । मो । मा+उ । मैव । अभि-व्याधिनः ।  
पूर्ववद् णिनिः । आघातकाः, सर्वतो हननकर्तारः । मो विदन् । मैव प्राप्नु-  
वन्तु स्पृशन्तु । आरात् । दूदेशे । शरव्याः । शृस्वृस्निहिन्नप्यसि० । उ०  
१ । १० । इति शृ हिंसे-उ प्रत्ययः । उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति  
शर-यत् समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६।४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये ।

भाष्यार्थ—सर्वं रत्नक जगदीश्वर पर पूर्ण श्रद्धा करके चतुर सेनापति अपनी सेना को रणक्षेत्र में इस प्रकार खड़ा करे कि शत्रु लोग पास न आसकें और न उनके अस्त्र शस्त्रों के प्रहार किसी के लगें ॥ १ ॥

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।

दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

विष्वञ्चः । अस्मत् । शरवः । पतन्तु । ये । अस्ताः । ये । च । आस्याः ।  
दैवीः । मनुष्येषवः । मम । मित्रान् । वि । विध्यत ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(ये) जो वाण (अस्ताः) छोड़े गये हैं (च) और (ये जो (आस्याः) छोड़े जायंगे (विष्वञ्चः) [वे] सब ओर फैले हुये (शरवः) वाण (अस्मत्) हम से [दूर] (पतन्तु) गिरें । (दैवीः मनुष्येषवः) हे [हमारे] मनुष्यों के दिव्य वाणो ! [ वाण चलाने वाले तुम ] (मम) मेरे (मित्रान्) पीड़ा देने हारे शत्रुओं को (विविध्यत) छेद डालो ॥ २ ॥

पा० ६ । १ । ७६ । इति अच् आदेशः । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । ८५ । इति स्वरितः । शरुसमूहान् शरसंहतीः । अस्मत् । अन्यारादितरते ० । पा० २ । ३ । २६ । इति आरात् योगे पञ्चमी । अस्मत्तः । विष्वञ्चः । ऋत्विग्दधृक्स्त्रिदि-  
गुष्णिगञ्चु ० । पा० ३ । २ । ५६ । इति विषु + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । अनदिनाम् ० । पा० ६ । ४ । २४ । इति न लोपः । अञ्चेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इति अकारलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । विष्वक् नानामुखम् अञ्चनशीलाः । सर्वत्रव्यापिनीः । इन्द्र । हे परमेश्वर । पातय । पत-णिच् । प्रक्षिप ॥

२—विष्वञ्चः । म० १ । विषु + अञ्चु-क्विन् । विविधगमनाः । शरवः । म० १ । श्वस्वस्निहि । उ० १ । १० । इति श्व हिंसायाम्-उ । वाणाः । अस्त्रश-  
स्त्राणि । पतन्तु । निपतन्तु अधोगच्छन्तु । अस्ताः । अस्तु क्षेपणे-क । क्षिप्ताः, विनिर्मुक्ताः । आस्याः । ऋहलोर्णयत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति अस्तु क्षेपणे-णयत् । क्षेपणीयाः । दैवीः । देवाद् यञ्जौ । चार्त्तिकम्, पा०

भावार्थ—सेनापति इस प्रकार अपनी सेना का ब्यूह करे कि शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र जो चल चुके हैं अथवा चलें वे सेना के न लगें और उस निपुण सेनापति के योद्धाओं के (दैवाः) दिव्य अर्थात् आग्नेय [अग्निवाण] और वारुणेय [जलवाण जो बन्दूक आदि जल में वा जल से छोड़े जावें] अस्त्र शस्त्रों को निरन्तर छेद डालें ॥ २ ॥

इस मन्त्र में वर्तमान काल का अभाव है क्योंकि वह अति सूक्ष्म और वेगवान् है और मनुष्यों को अगम्य है।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ठयो यो  
अस्माँ अभिदासति । रुद्रः शूरव्ययै तान् ममा-  
मित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥

यः । नः । स्वः । यः । अरणः । स-जातः । उत । निष्ठयः ।  
यः । अस्मान् । अभि-दासति । रुद्रः । शूरव्यया । सुतान् ।  
मम । मित्रान् । वि । विध्यतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (नः) हमारी (स्वः)जाति वाला अथवा (यः) जो (अरणः)  
न बोलने योग्य शत्रु वा विदेशी, अथवा (सजातः) कुटुम्बी (उत) अथवा

४ । १ । ८५ । इति देव-अञ्, देवस्य इयमित्यर्थे । टिड्ढाणञ् ० । पा० ४ । १ । १५  
इति ङीप् । वा छन्दसि पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । जिन-  
त्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति आद्युदात्तः । दिव्याः । आग्नेय-  
वारुणादयो वाणाः । अनुष्य-इषवः । मनोजर्जातावज्यतौ पुक्च । पा०  
४ । १ । १६१ । इति मनु-यत् अपत्यार्थे, पुगागमश्च । मनोरपत्यम् मनुष्यः, मनुजः,  
मानवः । इप गतौ-उ । इपुः, वाणः । मनुष्याणाम् अस्मदीयानाम् इषवः, वाणाः,  
अस्त्रशस्त्राणि । मम । मदीयान् । मित्रान् । अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४  
इति अम रोगे, पीडने-इत्रच् । पीडकान् शत्रून् । वि । विविधम् । विध्यत ।  
व्यध ताडने वेधने-लोट् । छिन्त, भिन्त ॥

३-स्वः । स्वन शब्दे-ङ् । ज्ञातिः । अरणः । वशिरण्योरण्युपसंख्यानम् ।  
वार्तिकम्, पा० ३ । ३ । ५८ । इति रण शब्दे-कर्मणि अप् । नञ् समासः ।

(यः) जो ( निष्पत्यः ) वर्णसङ्कर नीच (अस्मान् ) हम पर (अभिदासति) चढ़ाई करे (रुद्रः) शत्रुओं को कलाने वाला महा शूर वीर सेनापति (शन्व्यया) बाणों के समूह से (मम) मेरे (पतान् ) इन (अमित्रान्) पीड़ा देने वाले वैरियों को (विविध्यतु) छेद डाले ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को अपने और पराये का पक्षपात छोड़ कर दुष्टों को यथोचित दण्ड देकर राज्य में शान्ति रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० ६। ७५। १६ में कुछ भेद से है ॥ ३ ॥

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विपन् छर्षति नः ।

देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

यः । स-पत्नः । यः । असपत्नः । यः । च । द्विपन् । छर्षति । नः ।  
देवाः । तम् । सर्वे । धूर्वन्तु । ब्रह्म । वर्म । मम । अन्तरम् ॥ ४ ॥

अरणीयः, असंभाष्यः । विदेशी जनः । शत्रुः । सजातः । १।६।३।समान-  
जन्मा, खकुटुम्बी । निष्पत्यः । अव्ययात् त्यप् । पा० ४।२।१०४।अत्र ।  
निसो गते । इति वार्तिकेन । निस-त्यप् गतार्थे । ह्रस्वात् तादौ तद्धिते । पा० ८ ।  
३।१०१ । इति पञ्चम् । निर्गनो वर्णाश्रमेभ्यो यः । चारुडालः, म्लेच्छः । अस्मान् ।  
आशाकारिणो धार्मिकान् । अभिदासति । दसु उत्क्षेपे, लेट् उत्क्षि-  
पेत् । अस्माँ अभिदासति । दीर्घादिति समानपादे । पा० ८।३।६।इति संहि-  
तायां नकारस्य रुत्वम् । आतोऽति नित्यम् । पा० ८।३।३। इति आकारस्य अनुना-  
सिकः । रुद्रः । रोदेर्णिलुक् च । उ० २। २२। इति रुद्रिर् अश्रुविमोचने  
पयन्तात् रक् प्रत्ययः, णिलुक् च । रोदयति शत्रुनिति । महाशूरः सेनापतिः  
शरव्यया । म० १ । पाशादिभ्यो यः । पा० ४।२।४६। इति शरु-यप्रत्ययः  
समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६।४।१४६। इति गुणः । घान्तो यि प्रत्यये । पा० ६।  
१।७६। इति अच् आदेशः । टाप् च । इति शरव्या तथा शरसंहत्या । अमित्रान् ।  
म० २ । हिंसकान् शत्रून् । विध्यतु । म० २ । विशेषेण द्विनत्तु भिनत्तु ॥



भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (सपत्नः) प्रतिपत्नी और (यः) जो (असपत्नः) प्रकट प्रतिपत्नी नहीं है (च) और (यः) जो (द्विपत्न) द्वेष करता हुआ (नः) हमको (शपाति) कोसे [क्रोशे] । ( सर्वे ) सब (देवाः) विजयी महात्मा (तम्) उसको (धूर्वन्तु)नाश करें,(ब्रह्म)परमेश्वर,(वर्म) कवच रूप (मम) मेरे (अन्तरम्) भीतर है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ज्ञान वीन करके प्रकट और अप्रकट प्रतिपत्नियों और अनिष्ट-चिन्तकों को (देवाः) शूरवीर विद्वान् महात्मा नाश कर डालें । वह परब्रह्म सर्वरक्षक, कवच रूप होकर, धर्मात्माओं के रोम रोम में भर रहा है वही आत्म बल देकर युद्ध क्षेत्र में सदा उनकी रक्षा करता है ॥ ४ ॥

मन्त्र का उत्तरार्ध ऋ० ६ । ७५ । १६ । है ॥

सूक्तम् २० ॥

१—४ ॥ सोमो मरुतश्च देवताः । १ जगती, २—४ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् युज्ञे मरुतो मडता  
नः । मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मानो विदद्

वृजिना द्वेष्या या ॥ १ ॥

अदार-सृत् । भवतु । देव । सोम । अस्मिन् । युज्ञे । मरुतः ।  
मडता । नः । मा । नः । विदत् । अभि-भाः । मो इति । अशस्तिः ।  
मा । नः । विदत् । वृजिना । द्वेष्या । या । ॥ १ ॥

४—सपत्नः । १ । ६ । २ । प्रतियोगी, शत्रुः । असपत्नः । अशत्रुः, अप्र-  
कटशत्रुः । द्विपत्न । द्विप अग्रोती-शत्रु । द्वेषं कुर्वन् । शपाति । शप आक्रोशे-  
लेट् । शपेत् । देवाः । दीप्यमानाः । विजयिनः । शूराः । धूर्वन्तु । धूर्वी  
हिंसायाम् । हिंसन्तु । नाशयन्तु । ब्रह्म । १ । १० । ४ । परमेश्वरः । वर्म ।  
सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति वृश्-मनिन् वृणोति आच्छादयति  
शरीरमिति । तनुत्रम्, सर्वथा रक्षकम् । अन्तरम् । यदन्ते समीपे रमते ।  
अन्त + रम-ङ् । अन्तरात्मा । आभ्यान्तरं मध्ये भवम् ॥

भाषार्थ—(देव)हे प्रकाश मय, (सोम) उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! [वह शत्रु] (अदारसृत्) डर का न पहुंचाने वाला अथवा अपने स्त्री आदि के पास न पहुंचने वाला (भवतु) होवे, (मरुतः) हे [शत्रुओं के] मारने वाले देवताओं ! (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पूजनीय काम में ( नः ) हम पर ( मृडत ) अनुग्रह करो । ( अभिभाः ) सन्मुख चमकती हुई, आपत्ति ( नः ) हम पर ( मा विदत् ) न आ पड़े, और ( मो = माउ ) न कभी (अशस्तिः) अपकीर्ति और (या) जो (द्वेष्या) द्वेषयुक्त (वृजा) पाप बुद्धि है [वह भी] ( नः ) हम पर ( मा विदत् ) न आ पड़े ॥१॥

भावार्थ —सब मनुष्य परमेश्वर के सहाय से शत्रुओं को निर्बल कर दें अथवा घर वालों से अलग रखें और विद्वान् शूरवीरों से भी सम्मति लेवें जिस से प्रत्येक विपत्ति, अपकीर्ति और कुमति हट जाय और निर्बल अर्भीष्ट सिद्ध होवे ॥ १ ॥

मरुत् देवताओं के विजुली आदि के विमान हैं, इस पर वैज्ञानिकों को विशेष ध्यान देना चाहिये—ऋग्वेद १ । ८८ । १ । में वर्णन है ॥

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः रथैर्भिर्यात ऋष्टिमद्भि-  
रुश्वपणैः । आवर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्रता  
सुमायाः ॥ १ ॥

( मरुतः ) हे शूर महात्माओ ! ( विद्युन्मद्भिः ) विजुली वाले, ( स्वर्कैः )

१—अदारसृत् । दारजारौ कर्तरि णिलुक् च । वार्तिकम् । पा० ३ । ३ । २० । इति दृ विदारणे-णिच्-घञ् । णिलुक् च । सृ गतौ-णिचि क्तिप् । दारं दारं भयं सारयतीति दारसृत् । न दारसृत् अदारसृत् अभयप्रापकः, अहानिकरः । अथवा दारयन्ति दुःखनि विदारयन्ति यास्ताः स्त्रियः । स्र्यादिगृहस्थाः । दार + सृ-क्तिप् । अगृहगामी । देव । हे दीप्यमान ! सोम । १ । ६ । २ । हे सर्वोत्पादक परमेश्वर ! यज्ञे । १ । ६ । ४ । पूज्यकर्मणि यागे, अध्वरे । मरुतः । मृश्रो-यतिः । उ० १ । ६४ । इति मृञ् प्राणत्यागे-उत्ति । मारयन्ति नाशयन्ति दुष्टान् दुर्गन्धादिदुर्गुणान् वा ते मरुतः, देवाः । वायुः । ऋत्विजः-निघ० ३ । १८ । मरुत् हिरण्य-नाम-निघ० १ । २ । हे शूरवीरा देवाः । मृडत । मृड सुखने-लोट् मृडयत, सुखयत । नः । अस्मान् [त्रिवारं वर्तते] मा विदत् । १ । १६ । १ । विद्ल

अच्छी ज्वाला वाले [ वा अच्छे विचारों से बनाये गये ] ( ऋष्टिमद्भिः ) दो-धारा तलवारों वाले [आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे चलाने की कलाओं वाले] (रथेभिः) रथों से (आयात) तुम आओ, और (सुमायाः) हे उत्तम बुद्धि वाले ! (नः) हमारे लिये (वर्षिष्ठया) अति उत्तम (इषा) अन्न के साथ (यस्यः) पक्षियों के समान् (आपसत) उड़ कर चले आओ ॥

यो अ॒द्य से॒न्यो व॒धोऽघा॒यूना॑मुदी॒रते ॥ २ ॥  
यु॒वं तं मि॒त्रावरु॑णाव॒स्मद् याव॑यत् परि ॥ २ ॥

यः । अ॒द्य । से॒न्यः । व॒धः । अ॒घ-यू॒नाम् । उ॒त्-ई॒रते ।  
यु॒वम् । तम् । मि॒त्रावरु॑णी । अ॒स्मत् । यु॒व॒य॒तम् । परि ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अद्य ) आज ( अघायूनाम् ) बुरा चीतने वाले शत्रुओं की ( सेन्यः ) सेना का चलाया हुआ ( यः ) जो ( वधः ) शस्त्र प्रहार ( उदीरते ) उठ रहा है । ( मित्रावरुणी ) हे [ हमारे ] प्राण और अपान ( युवम् ) तुम दोनों ( तम् ) उस [ शस्त्र प्रहार ] को ( अस्मत् ) हम लोगों से ( परि ) सर्वथा ( यावयतम् ) अलग रक्यों ॥ २ ॥

लाभे-लुङ् । मालभताम् । मा प्राप्तात् । अभि-भाः । अभि, धर्षणे, अभिमुख्ये वा + भा दीप्ती-क्विप् । अभिभूय भाति दीप्यते । अभिभाः=अभिभूतिः-निरु० वाश परोपद्रवः । आपत्तिः । सो । मा-उ । मैव । अशस्तः । शंसु स्तुतौ-क्विन् । अकीर्तिः । वृजिना । वृजेः क्विच्च । उ०२ । ४७ इति वृजी वर्जने-इनच् स च कित्, टाप् । यद्वा । अश आदिभ्योऽच् । पा०५ । २ । १२७ । इति वृजन-अस्यर्थे अच् टाप् च । वृजनं पापमस्यामस्तीति वृजना । वक्रा, कुटिला, पाप-बुद्धिः । द्वेष्या । ऋह्लोर्गर्थत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति द्विष अप्रीतौ-कर्मणि गथत् । द्वेषणीया, अप्रीता ॥

२—अद्य । १ । १ । १ । वर्तमाने दिने । सेन्यः । भवे छन्दसि । पा०४ । ४ । ११० । इति सेना-यत् । सेनायां भवः । वधः । हनश्च वधः । पा० ३ । ३ । ६७ । इति हन हिंसागत्योः—अप्, वधादेशः । हननसाधनः, शस्त्रप्रहारः । अघा-

भावार्थ—(मित्रावरुणौ) का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने [ य० २ । ३ ] प्राण और अपान किया है । जो वायु शरीर के भीतर जाता है वह प्राण और जो बाहिर निकलता है वह अपान कहाता है । जिस समय युद्ध में शत्रु सेना आ दवावे उस समय अपने प्राण और अपान वायु को यथायोग्य सम रखकर और सचेत होकर शरीर में बल बढ़ाकर सैन्यक लोग युद्ध करें, तो शत्रुओं पर शीघ्र जीत पावें ॥

२—श्वास के साधने से मनुष्य स्वस्थ और बलवान् होते हैं ॥

३—प्राण और अपान के समान उपकारी और बलवान् होकर योद्धा लोग परस्पर रक्षा करें ॥

इ॒तश्च॒ यद्मु॒तश्च॒ यद् व॒धं व॒रुणा॑ यावय ।

वि॒ मु॒हच्छ॒र्मं यच्छु॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ३ ॥

इ॒तः । च॒ । यत् । अ॒मु॒तः । च॒ । यत् । व॒धम् । व॒रु॒णा॑ । य॒व॒य॒ ।

वि॒ । मु॒हत् । श॒र्मं । य॒च्छु॒ । व॒री॑यः । य॒व॒य॒ । व॒धम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ( वरुण ) हे सब में श्रेष्ठ, परमेश्वर ! ( इतः च ) इस दिशा से ( च ) और ( अमुतः ) उस दिशा से ( यत् यत् ) प्रत्येक ( वधम् ) शत्रु

यूनाम् । अघ पापकरणे-अच् । अघम्, पापम् । सुप आत्मनः ष्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इत्यत्र । छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम् । वार्त्तिकम् । इति अघ-ष्यच् । ष्याच् छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० इति उ प्रत्ययः । अश्वाघस्यात् । पा० ७ । ४ । ३७ । इति आत्वम् । पापेच्छूनाम् । दुराचारिणाम् । उत्-ईरते । ईर गतौ । उद्गच्छति, उत्तिष्ठति । युवम् । युवाम् । मित्रावरुणौ । १ । ३ । २, ३ । मित्रश्च वरुणश्च । देवता द्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्व पदस्य आनङ् आदेशः । प्राणापानौ । यावयतम् । यु मिश्रणामिश्रणयोः—एयन्तात् लोट् । वियोजयतम्, पृथक् कुरुतम् ।

३—इतः । पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इति इदम्—तसिल् । अस्मात् स्थानात् । अमुतः । अदस्—तसिल् पूर्ववत् । तस्माद् देशात् । यत् यत् । इति अव्ययद्वयम् । प्रत्येकं वधं यः कश्चिद् भवेत् इत्यर्थे । वधम् ।

प्रहार को ( यावय ) हटा दे । ( महत् ) [ अपनी ] बड़ी ( शर्म ) शरणा को ( वि ) अनेक प्रकार से ( यच्छ ) [ हमें ] दान कर, और ( वधम् ) [ शत्रुओं के ] प्रहार को ( वरीयः ) बहुत दूर ( यावय ) फेंक दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सेनापति ईश्वर पर विश्वास करके अपनी सेना को प्रयत्नपूर्वक शत्रु के प्रहार से बचाता और उन में वैरी को जीतने का उत्साह बढ़ाता है । वह शूरवीर जीत पाकर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

मन्त्र का पिछला आधा ऋ० १० । १५२ । ५ । का दूसरा आधा है, वहाँ ( महत् ) के स्थान में [ मन्योः ] शब्द है ॥

शास इत्या मुह्यँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कुदा चन ॥ ४ ॥

शासः । इत्या । मुहान् । अस्ति । अमित्र-सहः । अस्तृतः ।

न । यस्य । हन्यते । सखा । न । जीयते । कुदा । चन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इत्या) सत्य सत्य (मुहान्) बड़ा (शासः) शासनकर्ता (अमित्र-सहः) शत्रुओं को हराने हारा और (अस्तृतः) कभी न हरने हारा (अस्ति) वृहत् । (यस्य) जिसका (सखा) मित्र (कुदा चन) कभी भी (न) न (हन्यते) मारा जाता है और (न) न (जीयते) जीता जाता है ॥ ४ ॥

म० २ । शस्त्रप्रहारम् । वरुण । १ । ३ । ३ । हे वरुणीय, परमेश्वर । यावय । म० २ । वियोजय । महत् । १ । १० । ४ । विपुलं विस्तीर्णम् । शर्म । सर्व-धातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति शृ हिंसायाम्-मनिन् । स्वशरणम्, सुखम् । वि । विशेषेण । यच्छ । पाप्राध्मास्थाम्ना० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण्—दाने-यच्छादेशः । देहि । वरीयः । १ । २ । २ । उरुतरम्, विस्तीर्णतरम्, दूरतरम् ॥

४—शासः । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणित्यच् । पा० ३ । १ । १३४ । इति शासु अनुशिष्टौ-पचाद्यच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । शासकः, नियन्ता, वरुणः । इत्या । सत्यनाम, निघ० ३ । १० । सत्यम् । मुहान् । १ । १० । ४ । सर्वोत्कृष्टः । मुह्यँअस्ति । इत्यत्र संहितायाम् ।

भावार्थ— वह परमात्मा (वरुण) सर्व शक्तिमान् शत्रुनाशक है इस प्रकार श्रद्धा करके जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक, आन्तिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाते रहते हैं वह ईश्वर के भक्त दृढ़ विश्वासी अपने शत्रुओं पर सदा जय प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १५२ । १ में है ॥

सूक्तम् २१ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ८×४ अक्षराणि ॥

राजनीतिस्वस्तिस्थापनोपदेशः—राजनीति और शान्ति स्थापन का उपदेश ॥

स्वस्तिदा विशां पतिवृत्रहा विमृधो वृशी ।

वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वृशी ।  
वृषा । इन्द्रः । पुरः । एतु । नः । सोम-पाः । अभय-करः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( स्वस्तिदाः ) मंगल का देने हारा, ( विशाम् ) प्रजाओं का ( पतिः ) पालने हारा ( वृत्रहा ) अन्धकार मिटाने हारा ( विमृधः ) शत्रुओं

दीर्घादिति समानपादे । पा० ८३ । ६ । इति नकारस्य कत्वम् । आनोऽटिनिन्यम् ।  
पा० ८३ । ३ । इति अकारस्य अनुनासिकः । अमित्र-सहः । अमेद्वि-  
पति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम रोगे पीडने-इत्रच् । पह अभिभवे-पचाद्यच् ।  
चितः । पा० । ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अमित्राणां शत्रूणां सोढा,  
अभिभविता । अस्तृतः । स्तृञ् हिंसायाम्-कर्मणि क्त । अहिंसितः । न । निषेधे  
यस्य । वरुणस्य । हन्यते । सार्वधातुके यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति कर्मणि  
यक् । हिंस्यते । अभिभूयते । सखा । समाने ख्यः स चोदात्तः । उ० ४ । १३७ ।  
इति समान + ख्या प्रसिद्धौ कथने च-इन् । टिलोपयलोपौ समानस्य सभावश्च ।  
अनङ् सौ । पा० ७ । १ । ६३ । इति अनङ् । मित्रम्, सुहृद् । जीयते । जि  
जये-पूर्ववद् यक् । अभिभूयते । कदा । कस्मिन् काले । चन । अपि ॥

१—स्वस्तिदाः । सावसेः । उ० ४ । १८१ । इति सु+अस सत्तायाम्-

को ( वशी ) वश में करने हारा ( वृषा ) महा बलवान् ( सोमपाः ) अमृत रस का पीने हारा ( अभयंकरः ) अभय दान करने हारा ( इन्द्रः ) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा ( नः ) हमारे ( पुरः ) आगे आगे ( एतु ) चले ॥ १ ॥

**भावार्थ**—जो मनुष्य उपरोक्त गुणों से युक्त राजा को अपना अगुआ बनाते हैं, वे अपने सब कामों में विजय पाते हैं ।

२—वह जगदीश्वर सब राजा महाराजाओं का लोकाधिपति है उस को अपना अगुआ समझकर सब मनुष्य जितेन्द्रिय हों ॥ १ ॥

इस सूक्त में ऋग्वेद १० । १५२ । मन्त्र २—५ कुछ भेद के साथ हैं

तिप्रत्ययः । ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति डुदाञ् दाने-क्विप् । समासस्य । पा० ६ । १ । २२३ । इति अन्तोदात्तः । क्षेमप्रदः । विशाम् । विश प्रवेशे-क्विप् । विशः, मनुष्याः - निघ० २ । ३ । प्रजानाम् मनुष्याणाम् । पतिः । १ । १ । १ । पालकः, स्वामी । वृत्र-हा । स्फायितञ्चिच्चञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वृत् वर्तने-रक् । इति वृत्रः, अन्धकारः । शत्रुः । ब्रह्मभूणवृत्रेषु क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति हन हिंसागत्योः-क्विप् । शत्रुनाशकः । अन्धकार-निवारकः । वि-सृधः । वि + सृध हिंसायाम्-क्विप् । विशेषेण हिंसकान् । शत्रून् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्त्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति ( वशी ) शब्देन सह द्वितीया, यथा ( मां कामिन्यसः ) १ । ३४ । ५ । वशी । वशोऽस्त्यस्य । अत इनिटनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वश आयत्तत्वे, स्पृहायाम्—इनि । वश-यिता । वृषा । १ । १२ । १ । सुखस्य वर्षयिता, महावली । इन्द्रः । १ । ७ । ३ । परमेश्वरः । राजा । जीवः । पुरः । पुरस्तात्, अग्रे । एतु । इण्—गतौ । गच्छतु, अग्रगामी भवतु । सोम-पाः । आतो मनिन्क्विनिव्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । सोम + पा पाने—क्विच् । सोमस्य अमृतरसस्य पानशीलः । अभयम्-करः । मेघर्त्तिभयेषु कृजः । पा० ३ । २ । ४३ । उपपदविधौ भयादि-ग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति । इति वार्त्तिकेन । अभय + कृञ्-खच् । अरुद्धि-पदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ इति मुम् आगमः । अभयस्य रक्षणस्य जयस्य कर्ता ॥

वि न इन्द्रु मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।

अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

वि । नः । इन्द्रु । मृधः । जहि । नीचा । यच्छ । पृतन्यतः ।

अधमम् । गमय । तमः । यः । अस्मान् । अभि-दासति ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(इन्द्र) हे बड़े पेशवर्य वाले राजन् ! (नः) हमारे (मृधः) शत्रु-  
ओंको (विजहि) मार डाल, (पृतन्यतः) और सेना चढ़ाकर लानेहारों को (नीचा)  
नीचे करके (यच्छ) रोक दे । (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) हानि  
पहुँचावे उसको (अधमम्) नीचे (तमः) अन्ध कार में (गमय) पहुँचा दे ॥२॥

भाष्यार्थ—१, न्यायशील, प्रतापी राजा अन्यायी दुराचारियों को परमे-  
श्वर के दिये हुये बल से सब प्रकार परास्त करके दृढ़ बन्धीगृह में डालदे ॥

२—महा बली परमेश्वर को हृदयस्थ समझ कर सब मनुष्य अपनी कुवृ-  
त्तियों का दमन करें ॥ २ ॥

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।

वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्मित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

वि । रक्षः । वि । मृधः । जहि । वि । वृत्रस्य । हनू इति । रुज ।

वि । मन्युम् । इन्द्रु । वृत्र-हनू । मित्रस्य । अभि-दासतः ॥ ३ ॥

२—वि । विविधाम् । मृधः । म० १ । मृध हिंसायाम्—क्विप् । मर्धयितृन् ।  
हिंसकान्, शत्रून् । जहि । १ । ८ । ३ । नाशय । नीचा । सुपांसुलुक० ।  
पा० ७ । १ । ३६ । नीचैः शब्दात् सुपो डा प्रत्ययः, डित्वात् टिलोपः । नीचैः ।  
यच्छ । १ । १ । ३ । नियमय, न्यग्भूतान् कुरु । पृतन्यतः । सुप आत्मनः  
क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना—क्यच् । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः ।  
पा० ७ । ४ । ३६ । इति अकार लोपः । नदन्तस्य धातु संज्ञार्या लटः शतृ । युद्धार्थं  
पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छतः शत्रून् । अधमम् । अधस् + मप्रत्ययः, अन्त्य-  
लोपः । अतिनीचं । निकृष्टम् । गमय । गमल् सिचि-लोट् द्विकर्मकः । प्रापय  
तं शत्रुम् । तमः । तमिर खेदे-असुन् । अन्धकारम् । अस्मान्, अभिदा-  
सति । व्याख्यापम्, १ । १६ । ३ ॥



भाषार्थ—(रक्षः=रक्षांसि) राजसों और (मृधः) हिंसकों को (वि वि) सर्वथा (जहि) तू मार डाल, (वृत्रस्य) शत्रु के (हनू) दांनों जावड़ों को (विरुज) तोड़ दे ( वृत्रहन् ) हे अन्धकार मिटाने हारे (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अभिदासतः) चढ़ाई करने हारे ( अमित्रस्य ) पीड़ाप्रद शत्रु के (मन्युम्) कोप को ( वि=विरुज) भंग करदे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—१, राजा को पुरुषार्थों छोकर शत्रुओं का नाश करके और प्रजामें शान्ति फैलाकर आनन्द भोगना चाहिये ॥

२—सर्वरक्षक परमेश्वर के प्रताप से मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को निर्वल करें ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विपतो मनोऽप जिज्यासतो वृधम् ।

वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यात्रया वृधम् ॥ ४ ॥

अपे । इन्द्र । द्विपतः । मनः । अपे । जिज्यासतः । वृधम् ।

वि । महत् । शर्म । यच्छ । वरीयः । यात्रया । वृधम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( इन्द्र ) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ( द्विपतः ) वैरी के (मनः) मन को (अपे=अपकृत्य) नाड़कर, और ( जिज्यासतः ) [ हमारी ] आयु की हानि

३—रक्ष । रक्ष पालने-अमुन् । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्-निरु० ४ । १८ ।  
जानायेकवचनम् । राजसम् । शत्रुम् । वि । विशेषण. सर्वथा । मृधः । म०  
२ । मर्धयितृन्, हिंसकान् । जहि । म० २ । नाशय । वृत्रस्य । म० १ । शत्रोः ।  
हनू । शृष्टृस्तिहि० । उ० १ । १० । इति हन वधे-उ प्रत्ययः । हन्ति कठोर-  
द्रव्यादिकभिति हनुः । कपोलद्वयोपरिमुखभागी । रुज । रुजो भङ्गे तुदादिः ।  
भङ्गश्चि । विदारस्य । वि-विरुज । सन्युस् । १ । १० । १ ।—क्रोधं, कोपम् ।  
वृत्र-हन् । म० १ । हे अन्धकारनाशक ! अमित्रस्य । १ । १६ । २ । पीड-  
कस्य, शत्रोः । अभि-दासतः । दसु उत् क्षेपे-शत्रु । उपक्षपयतः, उत्-क्षेपण-  
शीलस्य ॥

४—अपे । अपकृत्य, तिरस्कृत्य । द्विपतः । द्विप अप्रीती-शत्रु । अप्रीति-

चाहने हारे शत्रु के ( वधम् ) प्रहार को ( अप = अपकृत्य ) छिन्नभिन्न करके ( महत् शर्म ) [ अपना ] विस्तीर्ण शरण ( वियच्छ ) [ हमें ] दानकर, और ( वधम् ) [ शत्रु के ] प्रहार का ( वरीयः ) बहुत दूर ( यावय ) फेंक दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वरके विश्वास से मनुष्य अपने पुरुषार्थ और बुद्धि बल से शत्रु को निरुत्साही करके विजयी हों ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पिछले आधे मन्त्र के लिये १ । २० । ३ । देखो ॥

इति चतुर्थोऽमुवाकः ॥



करस्य शत्रोः । मनः । १ । १ । २ । अन्तःकरणं हृदयम् आत्मबलम् । जिज्या-  
सतः । धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायाम् । वा० । पा० ३ । १ । ७ । इति  
ज्या वयोहानौ—सन् प्रत्ययः । सन्यङोः । पा० ६ । १ । ६ । इति द्विर्वचने  
हलादिः शेषे ह्रस्वे च कृते । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७८ । इति अभ्यासाकारस्य  
इत्वम् । सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ । वयोहानिमिच्छतः, अस्मान् जेतु-  
मिच्छतः पुरुषस्य । वधम् । १ । २० । १ । प्रहारम् । अन्यद् व्याख्यातम् । १ ।  
२० । ३ ॥

## अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २२ ॥

१—४ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश के लिये उपदेश ॥

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योती हरिमा च ते ।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परिदधमसि ॥ १ ॥

अनु । सूर्यम् । उत् । अयताम् । हृत्-द्योतः । हरिमा । च । ते ।

गोः । रोहितस्य । वर्णेन । तेन । त्वा । परि । दधमसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे ( हृद्-द्योतः ) हृद्दय की सन्ताप [ चमक ] ( च ) और ( हरिमा ) शरीर का पीलापन ( सूर्यम् अनु ) सूर्य के साथ साथ ( उद्-अयताम् ) उड़ जावे । ( रोहितस्य ) निकलते हुये लाल रंग वाले ( गोः ) सूर्य के ( तेन ) प्रसिद्ध ( वर्णेन ) रंग से ( त्वा ) तुझ को ( परि ) सब प्रकार से ( दधमसि ) हम घुट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रातः और सायं काल सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने से रक्त वर्ण दीखनी हैं, और वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध चलता है । उस समय मानसिक और शारीरिक रोगी को सदैव वायु सेवन और औषधि सेवन करावे ,

१—अनु । अनुलक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । लक्षणोऽर्थे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति सूर्य शब्दस्य द्वितीया । लक्षाकृत्य । सूर्यम् । १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकम् । आदित्यम् । उत् +

जिस से वह स्वस्थ हो जाये और रुधिर के संचार से उस का रंग रक्त सूर्य के समान लाल चमकीला हो जाये ॥ १ ॥

१—( गौः ) सूर्य है वह रसों को ले जाता [ और पहुंचाता ] है, और अन्तरिक्ष में चलता है—निरु० २ । १४ ॥

२—मनु महाराज ने भी दो सन्ध्याओं का विधान [ स्वस्थता के लिये ] किया है—मनु, अ० २ श्लो० १०१ ॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १ ॥

प्रातःकाल की सन्ध्यामें गायत्री को जपता हुआ सूर्य दर्शन होने तक स्थित रहे और सायंकाल की सन्ध्या में तारों के चमकने तक बैठा हुआ ठीक ठीक जप करे ॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दधमसि ।

यथायमरुपा असद्यो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥

परि । त्वा । रोहितैः । वर्णैः । दीर्घायु-त्वाय । दधमसि ।

यथा । अयम् । अरुपाः । असत् । अद्यो इति । अहरितः । भुवत् ॥२॥

अयताम् । अय गतौ । अनुदात्तेत्वाद् आत्मनेपदम् । उद्गच्छतु, विनश्यतु, इति यावत् । हृद्-द्योतः । द्युत दीप्तौ—भावे घञ् । हृदयस्य सन्तापः । हरिमा । वर्णदृढादिभ्यः प्यञ् च । पा० ५ । १ । १२३ । इति हरित्—भावे इमनिच् । यच्च भम् । पा० १ । ४ । १८ । इति भसंज्ञायाम् । टेः । पा० ६ । ४ । १४३ । इति टिलोपः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । कामिलादि-रोगजनितः शारीरो हरिद्वर्णः । गौः । पुंलिङ्गम् । गर्मेंडोः । उ० २ । ६७ । गम्लु गतौ-डो । गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे—इति भगवान् यास्कः—निरु० २ । १४ । आदित्यस्य, सूर्यस्य । रोहितस्य । रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ६४ । इति रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च-इतन् । प्रादुर्भूतस्य, उदितस्य । प्रभातकाले रक्तवर्णस्य । वर्णेन । वर्णं शुक्लादिवर्णकरणे दांपने च-घञ् । शगेण, रजनेन । रूपेण । दधमसि । दध्मः पोषयामः ॥

**भाषार्थ—**(रोहितैः) लाल (वर्णैः) रंगों के साथ (त्वा) तुम्हको (दीर्घायु-  
त्वाय) चिर काल जीवन के लिये (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते  
हैं । ( यथा ) जिस से ( अयम् ) यह ( अरपाः ) नीरोग ( असत् ) हो जाये,  
(अथो) और ( अहरितः ) पीले वर्ण रहित ( भुवत् ) रहे ॥ २ ॥

**भावार्थ—**सद्वैद्य और कुटुम्बी लोग रोगी को प्रातः सायम् वायु सेवन  
और औषधि सेवन कराकर स्वस्थ करें कि रुधिर संचार से उस का शरीर रक्त  
वर्ण हो जाय और ज्वर, पीलिया आदि रोग का पीलापन शरीर से जाता  
रहे ॥ २ ॥

या रोहिणीर्देवत्या ३ गावो या उत रोहिणीः ।

रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

याः । रोहिणीः । देवत्याः । गावः । याः । उत । रोहिणीः ।  
रूपम्-रूपम् । वयः-वयः । ताभिः । त्वा । परि । दध्मसि ॥३॥

**भाषार्थ—**(याः) जो ( देवत्याः ) दिव्य गुण युक्त (रोहिणीः) स्वास्थ्य  
उत्पन्न करने वाली ओषधें ( उत ) और ( याः ) जो ( रोहिणीः ) लाल वर्ण  
वाली (गावः) दिशायें हैं । ( ताभिः ) उन सब के साथ ( त्वा ) तुम्हको (रूपम्

२—त्वा । त्वांरोगिणं । रोहितैः । म० १ । लोहितैः, रक्तैः वर्णैः ।  
म० १ । रङ्गैः । रञ्जनैः । दीर्घायुत्वाय । दीर्घ-आयुत्वाय । छन्दसीशः । उ०  
१।२। इण् गतौ-उण् . भावे त्व प्रत्ययः । चिरकालजीवनाय । परिदध्मसि ।  
म० १ । सर्वतः पापयामः । अरपाः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति-  
रप लप कथने-असुन् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ ।  
अपापः, नीरुजः, नीरोगः । असत् । अस सत्तायाम्-लेट् । भवेत् । अथो ।  
अथ—उ । तदनन्तरम् एव । अहरितः । दृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ६३ । इति  
न + हृञ् हरणे—इतन् । पीतवर्णरहितः । भुवत् । भूसत्तायाम्-लेट् । भवेत् ॥

३—रोहिणीः । रुहेश्च । उ० २ । ५५ । इति रुह उद्भवे-इतन् । षिद्गौ-  
रादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति गारादित्वात् डाष् । वा छन्दसि । पा०

रूपम् ) सब प्रकार की सुन्दरता और ( वयः वयः ) सब प्रकार के बल के लिये ( परि दध्मसि ) हम सर्वथा पुष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब सूर्य की किरणों से दिशायें रक्त वर्ण दिखायी देती हैं तब प्रातः सायं दोनों समय सद्धैद्य रोगी को सुपरीक्षित औषधों और यथा-योग्य वायु सेवन से स्वस्थ करके सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट और बलवान् करें ॥३॥

सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।

अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

सुकेषु । ते । हरिमाणम् । रोपणाकासु । दध्मसि ।

अथो इति । हारिद्रवेषु । ते । हरिमाणम् । नि । दध्मसि ॥४॥

भाषार्थ— (सुकेषु) उत्तम उत्तम उपदेशों में और (रोपणाकासु) लेप आदि क्रियाओं में (ते) तेरे (हरिमाणम्) सुख हरने वाले शरीर रोग को (दध्मसि) हम रखते हैं । (अथो) और भी (हारिद्रवेषु) रुचिर रसों में (ते)तेरे (हरिमाणम्) चित्त विकार को (नि) निरन्तर (दध्मसि) हम रखते हैं ॥ ४ ॥

६।१।१०६। इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहयन्ति जनयन्ति स्वास्थ्यं ता रोहियः, ओषधयः । देवत्याः । भवे छन्दसि । पा० ४।४।११०। इति देवता-यत् । दिव्यगुणयुक्ताः । गावः । स्त्रीलिङ्गम् । दिशाः । रोहिणीः । वर्णादनुदात्तात् तो नः । पा० ४।१।३६। इति रोहित-डीप्, तकारस्य नकारः । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहियः, रोहितवर्णाः प्रातः सायंकालभवाः । रूपं-रूपम् । नित्यवीप्सयोः । पा० ८।१।४। इति द्विर्वचनम् । सर्वसौन्दर्येण । सर्वसौन्दर्याय । वयः-वयः । वयःगतौ-असुन् । वीप्सयां द्विर्वचनम् । कृत्स्नेन यौवनेन, सर्वेण सामर्थ्येण । सर्वसामर्थ्याय । ताभिः । गोभिश्च रोहिणीभिश्च ॥

४—सुकेषु । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३।२।१०१। इति सु० + कै + शब्दे, यद्वा, कच दीप्तौ-ड । उत्तमेषु शब्देषु । उपाय कथनेषु । हरिमाणम् । म० १।

भावार्थ—सद्वैद्य बाहिरी शारीरिक रोगों को यथायोग्य औषधि और लेप आदि से, और भीतरी मानसिक रोगों को उत्तम उत्तम औषधि रसों से नाश करके रोगी को स्वस्थ करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ० १ । ५० । १२ । में कुछ भेद से है, वहां (सुकेषु) के स्थान में [शुकेषु] है । और सायण भाष्य में भी [शुकेषु] माना है । परन्तु तीनों अथर्व-संहिताओं में (सुकेषु) पाठ है वही हमने लिया है । सायणाचार्यने [शुक] का अर्थ तोता पक्षी और (रोपणाका)का [काण्ठशुक] नाम हरिद्वर्ण पक्षी अथर्ववेद में और [शारिका पक्षी विशेष] अर्थात् मैना ऋग्वेद में, और (हारिद्रव) का अर्थ [गोपीतनक नाम हरिद्वर्ण] [पक्षी] अथर्ववेद में, और [हरिताल का वृक्ष] ऋग्वेद में किया है इस अर्थ का यह आशय जान पड़ता है कि रोग विशेषों में पक्षी विशेषों को रोगी के पास रखने से भी रोग की निवृत्ति होती है ॥

### सूक्तम् २३ ॥

१-४ ॥ औषधिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिंक्रि च ।

इदं रजनि रजग्र किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

रोग जनितं हरिद्वर्णम्, सुखहरणशीलं रोगं शारीरिकं हार्दिकं वा । रोपणा-  
कासु । रोपण—आकासु । रुह प्रादुर्भावे, शिन्—ल्युट्, हस्य पः । वणरोगे  
मांसाङ्कुरजननार्थक्रियादिकं इति रोपणम्, ततः, आ + कम कान्तौ—ड ॥ “रोपणं  
समन्तात् कामयन्ति तासु क्रियासु लिप्तास्वोषधिषु”—इति श्रीमद् दयानन्द-  
भाष्यम् ऋ० १ । ५० । १२ । दध्मसि । म० । १ । वयं धारयामः, स्थापयामः ।  
हारिद्रवेषु । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति ह्यञ् हरणे—इञ् । हरति  
रोगमिति हारिः, रुचिरः, मनोहरः । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति द्र द्रवणे  
ह्यवणे—अप् । इति, द्रवः, रसः । रुचिररसेषु । नि । नियमेष ॥

नक्तम्-जाता । असि । ओपधे । रामे । कृष्णे । असिक्ति । च ।  
 इदम् । रजनि । रजय । किलासम् । पलितम् । च । यत् ॥१॥

भाषार्थ—(ओपधे) हे उष्णता रखने हारी, ओपधि तू (नक्तंजाता) रात्रिमें उत्पन्न हुई (असि) है, जो तू (रामे) रमण कराने हारी (कृष्णे) चित्त को खींचने हारी, (च) और (असिक्ति) निर्वन्ध [पूर्ण सार वाली] है । (रजनि) हे उत्तम रंग करने हारी ! तू (इदम्) यह (यत्) जो (किलासम्) रूप का विगाड़ने हारा कुष्ठ आदि (च) और (पलितम्) शरीर का श्वेतपन रोग है [उसको] (रजय) रंगदे ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य उत्तम परीक्षित ओपधे से रोगों को निवृत्तिकरे ॥१॥

१—रात में उत्पन्न हुई ओपधि से यह आशय है कि ओपधे, गैहूँ, जौ, चावल आदि अन्न, और कमल आदि रोगनिवर्तक पदार्थ, चन्द्रमा की किरणों से पुष्ट होकर उत्पन्न होते हैं ॥

१—नक्तम्-जाता । नज ह्रियि-क्त । नजते लज्जां प्राप्नोति अस्याम् । यद्वा । नक्त नाशने-क्त । नक्तयति नाशयति प्रकाशम् इति नक्तं रात्रिः । जनी प्रादुर्भावे-क्त । रात्रौ जाता उत्पन्ना । अज्ञातजन्मा । ओपधे । ओपो पाको धीयतेऽस्याम्, ओप + डुधाञ् धारणपोषणयोः-कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ६३ । इति कि प्रत्ययः । ओपधय ओपद् धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ६ । २७ । अस्यार्थः—ओपत् शरीरे दहद् रोगजातं धयन्ति पिवन्ति नाशयन्ति । ओपति दाहके ज्वरादौ एना धयन्ति पिवन्ति रोगिणो दाहोपशमनाय । पक्षद्वये ओपत् + धेद् पाने-कि । अथवा दोषं वातपित्तादिकं धयन्तीति वा । दोष + धेद्-कि । पृपोदरादित्वाद् दलोपः । हे रोगनाशकद्रव्य ! । रामे । रमु क्रीडायाम् खिच् वा-घञ् । टाप् । रमते रमयति वेति रामा, हे रमणशीले, रमणकारिणि, सुखप्रदे । कृष्णे । कृषेर्वणे । उ० ३ । ४ । इति बाहुलकात् वर्णं विनापि । कृप आकर्षणे—नक् । टाप् । कर्षति आनन्दयति चित्तानि स्वमनोहरगुणेन । यद्वा, कर्षति वशीकरोति रोगान् सौ कृष्णा । हे आकर्षणशीले । असिद्ध । अश्विभ्यः कः । उ० ३ । २६ । इति पिञ् वन्धने-क्त । अथवा । पो अन्तकर्मणि-क्त नञ्समासः । छन्दसि क्तमित्येके । वार्तिकम्, पा० ४ । १ । ३६ । इति असिद्ध-



२—इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भाधान क्रिया रात्रि में करनी चाहिये ॥

३—श्रोण्यधि आदि मूर्त्तिमान पदार्थ पांच तत्त्वों से बने हैं तौ भी उनके भिन्न आकार और भिन्न २ गुण हैं, यह मूल संयोग वियोग क्रिया ईश्वर के अधीन है, वस्तुतः मनुष्य के लिये यह कर्म रात्रि अर्थात् अंधकार वा अज्ञान में है ॥

४—प्रलय रूपी रात्रि के पीछे, पहिले अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं फिर मनुष्य आदि की सृष्टि होती है ॥ १ ॥

क्विलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।

आत्वा स्वो विशतां वर्णः परां शुक्लानि पातय ॥२॥

क्विलासम् । च । पलितम् । च । निः । इतः । नाशय । पृषत् ।  
आ । त्वा । स्वः । विशताम् । वर्णः । परां । शुक्लानि । पातय ॥२॥

भाषार्थ—[हे श्रोण्यधि !] (इतः) इस पुरुष से (क्विलासम्) रूप बिगाडने वाले कुष्ठ आदि रोगको (च) और (पलितम्) शरीर के श्वेतपन (च) और (पृषत्) विकृत चिन्ह को (निर्णाशय) निरन्तर नाश करदे । (स्वःवर्णः) [रोग

लासम्, तकारस्य कः । असिता असिक्ता । हे अथद्वशक्ते, अखंडवीर्ये, पूर्णासार-  
युक्ते । रजनि । रजः श्युन् । उ० २ । ७६ । इति रज्ज रागे-श्युन्, स्त्रियां  
लाप् । रज्जयतीति रजनी । हे सुरज्जनशीले । रजय । रज्ज रागे, नकारलोपः  
रज्जय, स्वाभाविकरागयुक्तं कुरु । क्विलासम् । क्लीबलिंगम् । किल प्रेरणे,  
क्रीडे—क । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । किल + अलु क्षेपणे—अण् । किलं वर्णं  
अस्यति क्षिपति विकृतं करोतीति तत् क्विलासम् । वर्णदूषकम् सिध्मम् । कुष्ठ-  
रोगाद्रिकं । पलितम् । फलेरितजादेश्च पः । उ० ५ । ३४ । इति फल भेदने  
निष्पत्तौ च—इतच्, फस्य पत्वम् । फलति निष्पन्नं पक्वमिव भवतति पलितम् ।  
अथवा पल गतौ रक्षणे च—इतच् । शरीरश्वेततारोगः । यत् । यत् किञ्चित् ॥

२—क्विलासम् । म० १ । वर्णविकारकरं कुष्ठादिरोगम् । पलितम् ।  
म० १ । शरीरश्वेततारोगम् । निर् । निरन्तरम् । इतः । अस्मात् पुरुषात् ।

का] अपना रंग ( त्वाम् ) तुझ में [ओपधि में] (आविशताम्) प्रविष्ट हो जाय और ( शुक्लानि) [उसके] श्वेत चिन्हों को ( परा पातय) दूर गिरादे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य का उत्तम ओपधि से रोगी के शरीर का विगड़ा हुआ रूप फिर यथापूर्व सुन्दर रुचिर और मनोहर हो जाना है ॥ २ ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ॥

असिङ्गयस्योपधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

असितम् । ते । प्र-लयनम् । आ-स्थानम् । असितम् । तव ।  
असिङ्गी । असि । ओपधे । निः । इतः । नाशय । पृषत् ॥३॥

भावार्थ—(ओपधे) हे ओपधि ! (ते) तेरा (प्रलयनम्) लाभ (असितम्) निर्वन्ध वा अखंड है, और (तव) तेरा (आस्थानम्) विश्राम स्थान (असितम्) निर्वन्ध है, (असिङ्गी असि) और तू निर्वन्ध [ सारवाली ] है, (इतः) इस पुरुष से (पृषत्) [विकृत] चिन्ह को (निराशय) सर्वथा नाश कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य विचार करे कि यह ओपधि पूर्ण लाभयुक्त है यथायोग्य

नाशय । णश अदर्शने—णिच् । विनष्टं कुरु, घानय । पृषत् । वर्तमाने पृषद्-  
वृहन्महत्० । उ० २ । ८४ । पृष सेके हिंसने च—अति । विकृतचिन्हम् ।  
त्वा । त्वाम् । ओपधिम् । स्वः । स्वन शब्दे—ड । स्वकीयः, आन्मीयः ।  
आ+विशताम् । प्रविशतां, व्याप्नोतु । वर्णः । १ । २२ । १ । रूपम् ।  
शुक्लानि । ऋज्जन्द्राश्रवज्ज० । उ० २ । १८ । इति शुच शौचे—रन् । रस्य लः ।  
श्वेतानि श्वेतानि सितानि चिन्हानि । परा+पातय । पत, णिच् । दूरं प्रैरय ॥

३—असितम् । अञ्चिघृत्तिभ्यः कः । उ०३ । ८६ । इति पिञ् यन्धने-क्ता  
अथवा । पो अन्तकर्मणि=नाशने-क्त । नञ्ममासः । अवद्धम्, अखण्डितम् ।  
कृपणवर्णाम्—इति सायणाः । प्र-लयनम् । प्र+लीङ् श्लेषे, प्राप्ति-ल्युट् ।  
प्रापणं, प्राप्तिः, लाभः । आ-स्थानम् । आङ्+पठा गतिनिवृत्तौ-ल्युट् । विश्राम-

स्थान में उत्पन्न हुई है और सब अंशों में सारयुक्त है, ऐसी ओषधि के प्रयोग से रोग निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।

दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्मं श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

अस्थि-जस्य' । किलासस्य । तनू-जस्य' । च । यत् । त्वचि ।  
दूष्या । कृतस्य' । ब्रह्मणा । लक्ष्मं । श्वेतम् । अनीनशम् ॥४॥

भाषार्थ—( दूष्याकृतस्य अस्थिजस्य तनूजस्य च किलासस्य यत् श्वेतम् लक्ष्मं त्वचि अस्ति तत् ब्रह्मणा अहम् अनीनशम्—इत्यन्वयः)। (दूष्या) दुष्ट क्रिया से (कृतस्य) उत्पन्न हुये, (अस्थिजस्य) हड्डी से उत्पन्न हुये (च) और (तनूजस्य) शरीर से निकले हुये (किलासस्य) रूप बिगाड़ने हारे, कुष्ठ आदि रोग का (यत्) जो ( श्वेतम् ) श्वेत (लक्ष्मं) चिन्ह ( त्वचि ) त्वचा पर है [ उसको ] ( ब्रह्मणा ) वेद विज्ञान से ( अनीनशम् ) मैंने नाश कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—भारी रोग दो प्रकार के होते हैं एक ( अस्थिज ) हड्डी से उत्पन्न होने वाले अर्थात् भीतरी रोग जो ब्रह्मचर्य के खंडन और कुपथ्य भोजन आदि के कारण मज्जा और वीर्य के विकार से हो जाते हैं, और दूसरे (तनूज)

स्थानम् । त्व । त्वदीयम् । असिक्री । म० १ । अवद्धा, सारवती । ओषधे ।  
म० १ । हे रोगनाशकद्रव्य ! । अन्यत् सुगमं व्याख्यातंच ।

४-अस्थि-जस्य । असिसञ्जिभ्यां क्थिन् । उ० ३ । १५४ । इति असु  
क्षेपणे-क्थिन् । अस्यते क्षिप्यते शरीरे तत् अस्थि, शरीरस्थ सप्तधातुमध्ये  
धातुविशेष ; कीकसम् । ततः । पञ्चम्यामजातौ । पा० ३ । २ । ६८ । इति जनी  
प्रादुर्भावे- ड प्रत्ययः । अस्थिनो जातस्य मज्जाधातोः । किलासस्य । म० १ ।  
वर्णनाशकस्य कुष्ठरोगादिकस्य । तनू-जस्य । तन्वाः शरीरात् जायते, पूर्ववत्  
तनू + जनी- ड । शरीरजातस्य । यत् । लक्ष्मं । त्वचि । तनोरनश्चवः । उ०  
२ । ६३ । इति तनु विस्तारे-चिक प्रत्ययः, अत भागस्य वकारश्च । तन्यते विस्ती-

शरीर से उपपन्न हुये बाहिरी रोग जो मलिन वायु, मलिन घट, आदि के कारण होते हैं, इस प्रकार ( ब्रह्मणा ) वेदिक ज्ञान से रोगों का निदान करके उत्तम परीक्षित औषधियों से रोगियों को स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

इस सूक्त का आशय यह है कि जिस प्रकार सर्वैद्य रोगों का आदि कारण जानकर औषधि करके रोग निवृत्ति करता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा नियम पूर्वक दुष्टों का दमन करता है, सेनापति शत्रु के प्रहार से अपनी सेना की रक्षा करके जीत पाता है, और ब्रह्मज्ञानी और वैज्ञानिक लोग बाह्य और आभ्यान्तर विधियों को हटाकर अपना कार्य सिद्ध करते हैं ॥

सूक्तम् २४ ।

१—४ ॥ औषधिर्देवता ॥ १, ३, ४, अनुष्टुप् , २ पंक्तिः,  
८×५ अक्षराणि ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

सुपुर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।

तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥१॥

सु-पुर्णः । जातः । प्रथमः । तस्य । त्वम् । पित्तम् । आसिथ ।

तत् । आसुरी । युधा । जिता । रूपम् । चक्रे । वनस्पतीन् ॥ १ ॥

र्यते सा त्वक् । यद्वा । त्वच् संवरणे—क्विप् । त्वचति संवृणोति मेदः शोणितादि-  
कम् सा । शरीरावरणे, चर्मणि । दूष्या । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ ।  
इति दुष वैरे, दुष्टकर्मणि—इन् । दूषयति प्राणिनं हिनस्तीति दूषिः, तथा दुष्ट-  
क्रियायां ब्रह्मचर्यखंडनमद्यादिकुपथ्यसेवनरूपया । कृतस्य । उत्पादितस्य ।  
ब्रह्मणा । १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानेन । लक्ष्म । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ ।  
१४५ । इति लक्ष दर्शने—मनिन् । चिह्नम् । श्वेतम् । श्वित शुक्लतायाम्—अच्  
घञ् वा । शुक्लवर्णयुक्तम् । अनीनशम् । एष अदर्शने—णिचि लुङि रूपम् ।  
अहं नाशितवानस्मि ॥

भाषार्थ—( सुपर्णः ) उत्तम रीति से पालन करने हारा, वा . अति पूर्ण परमेश्वर ( प्रथमः ) सब का आदि ( जातः ) प्रसिद्ध है । ( तस्य ) उस [ परमेश्वर ] के ( पित्तम् ) पित्त [ बल ] को, [ हे औषधि ! ] ( त्वम् ) तूने ( आसिथ ) पाया था । ( तत् ) तब ( युधा ) संग्राम से ( जिता ) जीती हुयी ( आसुरी ) असुर [ प्रकाशमय परमेश्वर ] की माया [ प्रज्ञा वा बुद्धि ] ने ( वनस्पतीन् ) सेवा करने वालों के रक्षा करने हारे वृक्षों को ( रूपम् ) रूप ( चक्रैः ) किया था ॥१॥

भाषार्थ—सृष्टि से पहिले वर्तमान परमेश्वर की नित्य शक्ति से औषधि अन्न आदि में पोषण सामर्थ्य रहता है । वह ( आसुरी ) परमेश्वर की शक्ति ( युधा जिता ) युद्ध अर्थात् प्रलय के अन्धकार के उपरांत प्रकाशित होती है , जैसे अन्न, और घास पात आदि का बीज शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में भूमि के भीतर पड़ा रहता और वृष्टि का जल पाकर हरा होजाता है ॥ १ ॥

१—सु-पर्णः । धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति सु + पृ पालन-  
 पूरणयोः — न । शोभनपालनः , शोभनपूरणः परमेश्वरः । जातः । प्राडु-  
 र्भूतः । प्रसिद्धः । प्रथमः । १ । १२ । १ । आद्यः , अग्रिमः , उत्तमः । पित्तम् ।  
 अपि + देङ् पालने , दो छेदने वा-क्त । अच उपसर्गात् तः । पा० ७ । ४ । ४७ ।  
 इति तादेशः , अपेरह्लोपः । अपि अवश्यं दयते पालयति सुगुणान् , अथवा दति  
 नाशयति दुर्गुणान् तत् पित्तम् । वीर्यम् अथवा शरीरस्थधातुविशेषः । तत्पर्यायः  
 तेजः, उष्मा, अग्निः । तस्य कर्माणि । “पाचकं पचते भुक्तं शेषाग्निबलवर्धनम् ।  
 रसमूत्रपुरीपाणि विरेचयति नित्यशः” ॥ १ ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे । आसिथ ।  
 अस दीप्तिग्रहणगतिपु-लिट् । त्वं गृहीतवती प्राप्तवती । तत् । तदा ।  
 आसुरी । १ । १० । १ । असुरस्य इयम् । मायायामण् । पा० ४ । ४ । १२४ ।  
 इति असुर—अण् । टिट्हाणञ्द्वयस्० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । माया=  
 प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ । असुरस्य दीप्यमानस्य परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा । युधा ।  
 युध संग्रहारे—क्विप् । युद्धेन संग्रामेण विघ्ननिवारणेन । जिता । प्राप्तपरा-  
 जया । वशीकृता रूपम् । १ । १ । १ । आकारम् । सौन्दर्यम् । चक्रैः ।

टिप्पणी--(असुर) शब्द के लिये १।१०।१ और (आसुरी) के लिये ७।३६।१। देखो। हे औपधि। त् रात्रि में उत्पन्न हुई है। पेसा, १।२३।१ में आया है। ऋग्वेद १०।१२६।३, में कहा है।

तम आसीत् तमसा गुहमम्रेऽप्रके तं सलिलं सर्वमा इदम्।  
पहिले [प्रलय काल में] अन्धकार था, और यह सब अन्धकार से ढका हुआ चिन्हरहित समुद्र था।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।  
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥२॥  
आसुरी । चक्रे । प्रथमा । इदम् । किलास-भेषजम् । इदम् ।  
किलास-नाशनम् । अनीनशत् । किलासम् । सरूपाम् ।  
अकरत् । त्वचम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( प्रथमा ) प्रथम प्रकट हुई ( आसुरी ) प्रकाशमय परमेश्वर की माया [बुद्धि वा ज्ञान] ने (इदम्) ईस [वस्तु] को ( किलासभेषजम् ) रूपनाशक महा रोग को औपधि और (इदम्) इस [वस्तु]को ही ( किलासनाशनम् ) रूप विगाड़ने वाले महारोग की नाश करने हारी (चक्रे) बनाया। [उत्पन्न] [ईश्वर मायाने] (किलासम्) रूप विगाड़ने वाले महारोग को (अनीनशत्) नाश किया और ( त्वचम् ) त्वचा को ( सरूपाम् ) सुन्दर रूप वाली ( अकरत् ) बनादिया ॥ २ ॥

डुकृञ् करणे—लिट् । कृतवती , दत्तवती । वनस्पतीन् । १ । ११ । ३ ।  
वनानां सेवकानां पालकान् । वृक्षान् सृष्टिपदार्थान्, इत्यर्थः ॥ १ ॥

२—आसुरी । म० १ । प्रकाशमयपरमेश्वरस्य माया प्रज्ञा । चक्रे ।  
म० १ । कृतवती । प्रथमा । म० १ । आदिभूता । इदम् । प्रसिद्धम् । उपस्थितम् । किलास-भेषजम् । किलासम् १।२३।१ । किल + असु क्षेपणे-अण् ।  
भिषजो वैदास्येदमिति अण् निपातनात् पत्वम् यद्वा, भेषं भयं रोगं जयतीति जि-ड-।; रूपनाशकस्य महारोगस्य औपधम् । किलास-नाशनम् । कृत-

भाष्यार्थ—(आसुरी) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की शक्ति से प्रलय के पश्चात् अनेक विघ्नों के हटाने पर मनुष्य के सुखदायक पदार्थ उत्पन्न हुये जिस से पृथिवी पर समृद्धि और दुधा आदि रोगों की निवृत्ति हुई ॥

सरूप॑पा नाम॑ ते मा॒ता सरूपो॑ नाम॑ ते पि॒ता ।

सरूप॑कृत् त्वमोषधे॑ सा सरूपमि॑दं कृ॒धि ॥ ३ ॥

स-रूप॑पा । नाम॑ । ते । मा॒ता । स-रूपः॑ । नाम॑ । ते । पि॒ता ।  
सरूप॑-कृत् । त्वम् । ओषधे॑ । सा । स-रूपम् । इदम् । कृधि ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—( ओषधे ) हे उष्णता रखने हारे अन्न आदि ओषधि (सरूपा) समान गुण वा स्वभाव वाली ( नाम ) नाम ( ते ) तेरी ( माता ) माता है, ( सरूपः ) समान गुण वा स्वभाव वाला ( नाम ) नाम ( ते ) तेरा ( पिता ) पिता है, ( त्वम् ) तू ( सरूपकृत् ) सुन्दर वा समान गुण करने हारी है, ( सा=सा त्वम् ) सो तू ( इदम् ) इस [ अंग ] को ( सरूपम् ) सुन्दर रूप युक्त ( कृधि ) कर ॥ ३ ॥

ल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति किलास + णश्च अदर्शने—कर्तरि ल्युट् । किलासस्य रूपनाशकस्य महारोगस्य कुष्ठादिकस्य निवर्तकम् । अनीनशत् । णश्च अदर्शने—णिच्, लुङ् । नाशयति स्म । किलासम् । १ । २३ । १ । वर्णनाशकं महारोगम् । स-रूपाम् । ज्योतिर्जनपद० । पा० ६ । ३ । ८५ । इति समानस्य सभावः । समानरूपाम् । साधुरूपाम् । अकरत् । डुकृञ् करणे लुङ् कृतवती । त्वचम् । १ । २३ । ४ । त्वचाम्, शरीरावरणं चर्म ॥

३—स-रूपा । म० २ । समानं रूपं स्वभावो गुणो यस्याः सा । समान-स्वभावाम् । नाम । अव्ययम् । नामन्सोमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति म्ना अभ्यासे—मनिन् । निपातनात् साधुः । म्नायते अभ्यस्यते यत् । प्रसिद्धा । प्रसिद्धम् । म्नात् । १ । २ । १ । माननीया जननी भूमिः प्रकृतिर्वा । स-रूपः । समानरूपः । समानस्वभावः, समानगुणः । पिता । १ । २ । १ । पालको जनकः । परमेश्वरः मेघः सूर्यो वा । सरूप-कृत् । डुकृञ् करणे—किप् । इस्वस्य

भाषार्थ—( ओषधि ) क्षुधा रोगादि निवर्तक वस्तु को कहते हैं जिस से शरीर में उष्णता रहती है, उसकी (माता) प्रकृति वा पृथिवी और (पिता) परमेश्वर वा मेघ वा सूर्य्य है जिनके गुण वा स्वभाव सब प्राणियों के लिये समान हैं । ईश्वर से प्रेरित प्रकृति से अथवा भूमि और मेघ वा सूर्य्य के संयोग से सब पुष्टि दायक और रोग नाशक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । विद्वान् लोग पदार्थों के गुणों को यथार्थ जान कर नियमपूर्वक उचित भोजन आदि के सेवन और यथोचित उपकार लेने से अपने को और अपने सन्तानों को रूपवान् और वीर्यवान् बनावें ॥ ३ ॥

श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।

इदम् षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

श्यामा । सरूपम्-करणी । पृथिव्याः । अधि । उत्-भृता ।  
इदम् । ऊं इति । सु । प्र । साधय । पुनः । रूपाणि । कल्पय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( श्यामा ) व्यापनशीला वा सुखप्रदा, ( सरूपंकरणी ) सुन्दरता करने वाली तू ( पृथिव्याः अधि ) विख्यात वा विस्तारण पृथिवी में से ( उद्भृता ) उखाड़ी गई है । ( इदम् उ ) इस [ कर्म ] को ( सु ) भली भांति से ( प्रसाधय ) सिद्ध कर, ( पुनः ) और ( रूपाणि ) [ इस पुरुष ] की सुन्दरताओं को ( कल्पय ) पूर्ण कर ॥ ४ ॥

पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । शोभनरूपकारिणी । समानगुणकारिणी । त्वस् ओषधे । १ । २३ । १ । हे रोगनाशकद्रव्य त्वम् । स-रूपम् । सुन्दररूपयुक्तम् । इदम् । रोगदूषितम् अङ्गम् । कृधि । श्रुशृणुपृक्वृभ्यश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेर्धिरादेशः । कुरु ॥

४—श्यामा । इपियुधीन्धिदसिग्याधूसूभ्यो मक् । उ० १ । १४५ । इति श्यैङ् गतौ-मक्, टाप् । श्यायति गच्छति सुखं प्राप्नोति सा श्यामा व्यापनशीला । सुखप्रदा । ओषधिः । सरूपम्-करणी । सरूपं क्रियते अनयेति । करणाधिकरणयोश्च । पा० ३ । ३ । ११७ । इति कृञः-करणे ल्युट् । पूर्वपदे सुपो लुग-भावंश्छान्दसः । टिड्ढाणञ्द्वयसज्० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । सुन्दररूपः



भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य उत्तम औषधों से रोग को निवृत्त कर रोगी को सर्वाङ्ग पुष्ट करके आनन्दयुक्त करते हैं, इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुष सब विघ्नों को हटा कर कार्य्य सिद्धि कर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

मुद्गराक्षस में कहा है—

“धरि लात विघ्न अनेक पै निरभय न उद्यम तें टरैं ।

जे पुरुष उत्तम अन्त में ते सिद्ध सब कारज करैं ॥”

सूक्तम् २५ ॥

१—४ । अग्निदेवता । त्रिष्टुप् छन्दः, ११×३ अक्षराणि ॥

ज्वरादिरोगशान्त्युपदेशः—ज्वर आदि रोग की शान्ति के लिये उपदेश ॥

यद्गिरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्म धृतो  
नमसि । तत्र त आहुः परमं जुनित्रं स नः संविद्वान्  
परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यत् । अग्निः । आ । अपः । अदहत् । प्र-विश्य । यत्र । अकृ-  
ण्वन् । धर्म-धृतः । नमसि । तत्र । ते । आहुः । परमम् ।  
जुनित्रम् । सः । नः स-विद्वान् । परि । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ १ ॥

कर्त्री । पृथिव्याः । १ । २ । १ । प्रख्यातायाः विस्तोर्णायावाभूमेः सकाशात् ।  
अधि । पंचम्यर्थानुवादी । उत्-भृता । उत्+भृञ्-क । उत्खाता । उत्पा-  
दिता । ऊं इति । पादपूरणः । पदपूरणस्ते मितान्तरेष्वनर्थकाः, कमीमिद्विति ।  
निरु० १ । ६ । प्र+साधय । प्र+पाथ सिद्धौ, णिच् । सिद्धं कुरु, प्रवर्धय ।  
पुनः । अनन्तरम् । पुना रूपाणि । रोरि । पा० ८ । ३ । १४ । इति रेफस्य  
लोपे कृते । ढूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । पा० ६ । ३ । १११ । इति पूर्वदीर्घः ।  
रूपाणि । सौन्दर्याणि, स्वास्थ्यलक्षणानि । कल्पय । कृपू सामर्थ्ये, णिच्  
कृपो रो लः । पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम् । संपादय, पूरय ॥

भाषार्थ—( यत् ) जिस सामर्थ्य से ( अग्निः ) व्यापक अग्नि [ ताप ] ने ( प्रविश्य ) प्रवेश करके ( अपः ) व्यापन शील जल को ( आ अदहत् ) तपा दिया है और ( यत्र ) जिस [ सामर्थ्य ] के आगे ( धर्मधृतः ) मर्यादा के रखनेवाले पुरुषों ने ( नमसि ) अनेक प्रकार से नमस्कार ( अकृण्वन् ) किया है । ( तत्र ) उस [ सामर्थ्य ] में ( ते ) तेरे ( परमम् ) सब से ऊँचे ( जनित्रम् ) जन्म स्थान को ( आहुः ) वह [ मर्यादापुरुष ] बताते हैं, ( सः = स त्वम् ) सो तू, ( तक्मन् ) है जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर ! [ ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर ! ] ( संविद्वान् ) [ यह बात ) जानता हुआ ( नः ) हमको ( परि वृद्धि ) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर उष्ण स्वभाव अग्नि द्वारा शीतल स्वभाव जल को तपाता है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वालों को संयोग वियोग से अनुकूल करके सृष्टि का धारण करता है, जिस परमेश्वर से बढ़ कर कोई मर्यादा पालक नहीं है जो स्वयंभु सब का अधिपति है, और ज्वर आदि रोगों से पापियों को दण्ड

१—यत् । यस्मात् सामर्थ्यात् । अग्निः । १ । ६ । २ । तेजः पदार्थ-विशेषः । औष्ण्यम् । आ । समन्तात् । अपः । १ । ४ । ३ । आप्नुवन्ति शरीर-मित्यापः । अस्य नित्यं बहुवचनत्वम् स्त्रीत्वं च । जलानि । प्राणान् । "आपः " य० १७ । २६ । प्राणाः । इति दयानन्द सरस्वती । अदहत् । दह दाहे = सन्तापे-लङ् । अतपत् । प्र-विश्य । अन्तर्निगाह्य । यत्र । सामर्थ्ये । अकृण्वन् । क्वि हिंसाकरणयोः-लङ् । अकुर्वन् । धर्मधृतः । अर्त्तिस्तुडुसृष्टृ० । उ० १ । १४० । इति धृञ् धारणे—मन् । धरति लोकान् धियते पुण्यात्मभिर्वा स धर्म-न्यायः, मर्यादा । ततः । धृञ्—क्वप्, तुक् आगमः । धर्मधारकाः । मर्यादा-पालकाः पुरुषाः । नमसि । णम प्रहृत्वे-असुन्, आद्युदासः । नम्रभावान् । तत्र । सामर्थ्ये । आहुः । वृञ् व्यक्तायां वाचि-लट् व्रुवन्ति, कथयन्ति । परमम् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ४ । इति पर + मा माने-क । प्रघा-नम् । जनित्रम् । अशिन्नादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जन जनने, प्रादु-र्भावे-इत्र प्रत्ययः । जन्मस्थानम् । सः । स त्वम् । सम्-विद्वान् । विदेः शतु-र्वसुः । पा० ७ । १ । ३६ । इति विद ज्ञाने-शतुर्वसुरादेशः सम्यग् जानन् । ज्ञान-वान् । परि-वृद्धि । वृजी वर्जने—रधादित्वात् भ्रम् परिवर्जय, परित्यज ।

देता है. उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये हम पापों से बच कर सदा आनन्द भोगों, सब विद्वान् लोग उस ईश्वर के आगे सिर झुकाते हैं ॥ १ ॥

यद् अर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्ये षि यदि वा ते  
जुनित्रम् । ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः  
संविद्वान् परि वृद्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि । अर्चिः । यदि । वा । असि । शोचिः । शकल्य-इषि ।  
यदि । वा । ते जुनित्रम् । ह्रूडुः । नाम । असि । हरितस्य ।  
देव । सः । नः । सम्-विद्वान् । परि । वृद्धि । तक्मन् ॥ २ ॥

भाषार्य—( यदि ) चाहे तू ( अर्चिः ) ज्वाला रूप ( यदि वा ) अथवा ( शोचिः ) ताप रूप ( असि ) है ( यदि वा ) अथवा ( ते ) तेरा ( जुनित्रम् ) जन्म स्थान ( शकल्ये षि ) अंग अंग की गति में है । ( हरितस्य ) हे पीले रंग के ( देव ) देने वाले ( ह्रूडुः ) दवाने की कल ( नाम असि ) तेरा नाम है, ( सः ) सो तू ( तक्मन् ) जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर ! [ ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर ] ( संविद्वान् ) [ यह बात ] जानता हुआ ( नः ) हमको ( परि वृद्धि ) छोड़ दे ॥ २ ॥

भावार्थ—यह परब्रह्म ज्वर आदि रोग से दुष्कर्मियों की नाड़ी नाड़ी को दुःख से दया डालता है जैसे कोई फिसी को दवाने की कल में दबावे ।

तक्मन् । सर्वघातुभ्यो मनिन् । उ०४। १४५ । इति तकि कृच्छ्र जीवने=दुःखेन जीवने-मनिन् । हे कृच्छ्र जीवनकारिन्, ज्वर ॥

२—यदि । संभावनायाम्, चेत् । अर्चिः । अर्चिशुचिहुसू० । उ० २ ।  
१०८ । इति अर्च पूजायाम्-इसि । अर्चिः, शोचिः, ज्वलतो नामधेयेषु-निघ०  
२ । १७ । ज्वलनकरः । शोचिः । शुच शोके, शौचे—पूर्ववत् इसि । शोचति ।  
ज्वलति कर्म, निघ० १ । १६ । तापकरः । शकल्य-इषि । शकि शम्योर्नित् ।  
उ० १ । ११२ । इति शकू शक्तौ—कल प्रत्ययः । शकूः खण्डः । पुनः समूहार्थे—  
य प्रत्ययः, ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति इष गतौ क्विप् । शकल्यं अंग-

उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये पापों से बच कर सदा आनन्द भोगों ॥ २ ॥

सायण भाष्य में ( ह्रूडुः ) के स्थान में [ रुडुः ] पढ़ कर [ रोहकः ] उत्पन्न करने वाला अर्थ किया है ।

यदि शोको यदि वाभिःशोको यदिवा राज्ञो वरुण-  
स्यासि पुत्रः । ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः  
संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

यदि । शोकः । यदि । वा । अभि-शोकः । यदि । वा । राज्ञः ।  
वरुणस्य । असि । पुत्रः । ह्रूडुः । नाम । असि हरितस्य ।  
देव । सः । नः । सुस-विद्वान् । परि । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ ३ ॥

भावार्थ—( यदि ) चाहे, तू ( शोकः ) हृदयपीड़क ( यदि वा ) चाहे  
( अभिशोकः ) सर्व शरीर पीड़क है, ( यदि वा ) अथवा तू ( राज्ञः ) तेज वाले  
( वरुणस्य ) सूर्य वा जल का ( पुत्रः ) पुत्र रूप ( असि ) है । ( हरितस्य ) हरे पौले  
रंग के ( देव ) देने वाले । ( ह्रूडुः ) दधाने की कल ( नाम असि ) तेरा नाम  
है । ( सः ) सो तू, ( तक्मन् ) हे जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर ! [ ज्वर समान  
पीड़ा देने हारे । ] ( संविद्वान् ) [ यह बात ] जानता हुआ ( नः ) हम को ( परि-  
वृङ्ग्धि ) छोड़ दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानसिक और शारीरिक पीड़ा, सूर्य की ताप वा जल से  
उत्पन्न ज्वर, और पोलिया आदि रोग, पाप अर्थात् ईश्वरीय नियम से विरुद्ध

समूहम् इष्यतीति शकल्येद् । अंगानां गतौ । जनित्रम् । म० १ । जन्मस्थानम् ।  
ह्रूडुः । ईपेः किञ्च । उ० १ । ११३ । इति ह्रूडु गतौ, अत्र पीड़ने-कु । पीडा-  
यन्त्रम् । नाम । १ । २ । ३ । प्रसिद्धः । हरितस्य । हञ् हरणे—इतन् । रोग-  
जनितस्य पीतवर्णस्य । देव । हे चोतक, दातः । अन्यद् । व्याख्यातम्,  
म० १ ॥

३—शोकः । शुचिशोके-कर्तरि घञ् । चजोः कुघिण्यतोः । पा० ७ । ३ ।  
५२ । इति कुत्वम् । मनःपीड़कः । अभि-शोकः । सर्वशरीरपीड़कः ।

आचरण का फल है, इस लिये मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक परमेश्वर के नियमों का पालन करें, और दुष्ट आचरण छोड़ कर सुखी रहें ॥ ३ ॥

नमः शीताय तुक्मने नमो क्रूराय शोचिषे कृणोमि ।  
यो अन्येद्युः उभयद्युः अभि एति तृतीयकाय नमो अस्तु  
तुक्मने ॥ ४ ॥

नमः । शीताय । तुक्मने । नमः । क्रूराय । शोचिषे । कृणोमि ।  
यः । अन्येद्युः । उभयद्युः । अभि एति । तृतीयकाय । नमः ।  
अस्तु । तुक्मने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( शीताय ) शीत ( तुक्मने ) जीवन को कष्ट देनेहारे ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर ] को ( नमः )नमस्कार, और ( क्रूराय ) क्रूर ( शोचिषे ) ताप के ज्वर को [ ज्वर रूप परमेश्वर को ] ( नमः ) नमस्कार ( कृणोमि ) मैं करता हूँ । ( यः ) जो ( अन्येद्युः ) एकान्तरा ज्वर और ( उभयद्युः ) दो अन्तरा ज्वर ( अभि एति ) चढ़ता है, [तस्मै] [उस ज्वर रूपको और] (तृतीयकाय) तिजारी ( तुक्मने ) ज्वर [ ज्वर रूप परमेश्वर ] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥४॥

राजः । १ । १० । १ । दीप्यमानस्य, तेजस्विनः । वरुणस्य । १ । ३ । ३ । सूर्य-  
तापस्य जलस्य वा । पुत्रः । १ । ११ । ५ । शोधकः । सुतः, तनूजः पुत्रवत्  
उत्पन्तः । अन्यद् व्याख्यानम्-म० २ ॥

४—शीताय । श्यैङ् गतौ-क्त । द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः । पा० ६।१।२४।  
इति नमप्रसारणम् । हलः । पा० ६।४।२। इति दीर्घः । शीतलाय । शीतस्पर्शवते ।  
तुक्मने । म० १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे रोगाय, ज्वराय ज्वरसमानाय परमेश्वराय ।  
क्रूराय । स्फायितञ्चिवञ्चिशक्ति० । उ० २ । १३ । इति रुङ् वधे-रक्,  
दीर्घञ्च । घातकाय, पीडकाय, क्रूराय । शोचिषे । म० २ । तापकराय ।  
कृणोमि । कृचि हिंसाकरणयोः । करोमि । यः । तक्मा, ज्वरः । अन्येद्युः ।  
अव्ययम् । अन्यस्मिन् दिने, परदिने । उभयद्युः । अव्ययम् । उभयस्मिन् द्वितीये-

भाष्यार्थ—परमेश्वर अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोगों से पापियों को कष्ट देता है, उस के क्रोध से भय मान कर हम छोटे कामों से बचकर सदा शान्त चित्त और आनन्द में मग्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २६ ।

१--४ ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

आरे ३ ऽसावस्मदं स्तु हेतिर्देवासो असत् ।

आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥

आरे । असौ । अस्मत् । अस्तु । हेतिः । देवासः । असत् ।

आरे । अश्मा । यम् । अस्यथ ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—( देवासः ) हे विजयी शूर धीरो ! ( असौ ) यह ( हेतिः ) सांग वा बरछी ( अस्मत् ) हम से ( आरे ) दूर ( अस्तु ) रहे, और ( अश्मा ) यह पत्थर ( आरे ) दूर ( असत् ) रहे ( यम् ) जिसे ( अस्यथ ) तुम फँकते हो ॥१॥

भाष्यार्थ—युद्ध कुशल सेना पति लोग चक्रव्यूह, पन्नव्यूह, मकरव्यूह, क्रौञ्चव्यूह सूचीव्यूह, आदि से अपनी सेना का विन्यास इस प्रकार करें कि शत्रु के अस्त्र शस्त्र का प्रहार अपने प्रजा और सेना के न लगें, और न अपने अस्त्र शस्त्र उलट कर अपने ही लगें, किन्तु शत्रुओं का विध्वंस करें ॥ १ ॥

ऽहनि । अभि-एति । आगच्छति । तृतीयकाय । त्रैः सम्प्रसारणं च । पा०५ । २ । ५५ । इति त्रि-तीयः पूरणे, सम्प्रसारणं च । स्वार्थे कन् । तृतीयदिने आगच्छते ॥

१—आरे । दूरे । असौ । सा शत्रुप्रयुक्ता । हेतिः । १।१३।३। खक्राघा-युधं शक्तिनामास्त्रम् । देवासः । १।७।१। आज्ञसेरसुक् । पा०७।१।५०। इति असुक् । हे विजयिनो महात्मानः सेनापतयः । असत् । १।२२।२। भवेत् । अश्मा । १।२।२। मेघः, आयुधवृष्टिः । पापाणः । यम् । अश्मानम् । अस्यथ । असु कपोले-सट्, दिवादिस्थात् श्यन् । यूयं क्षिपथ ॥

सखासावृस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः ।

सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

सखा । अस्मि । अस्मभ्यम् । अस्तु । रातिः । सखा । इन्द्रः ।  
भगः । सविता । चित्र-राधाः ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(अस्मि) वह (गतिः) दान शील राजा (अस्मभ्यम्) हमारे लिये  
( सखा ) मित्र ( अस्तु ) होवे, (भगः) सब का सेवनीय, ( सविता ) लोकों को  
घनाने वाले सूर्य के समान प्रतापी, ( चित्रराधाः ) अद्भुत धन युक्त ( इन्द्रः )  
बड़े पेश्वर्य वाला ( सखा ) मित्र (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा, सेना और कर्मचारियों पर सदा उदारचित्त  
रहे और सूर्य के समान महा प्रतापी और पेश्वर्यशाली और महाधनी होकर  
सब का हितकारी धने और सब की उन्नति से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

युयं नः प्रवतो नृपान् मरुतः सूर्यत्वचसः ।

शर्म यच्छाय सुप्रथः ॥ ३ ॥

युयम् । नः । प्र-वतः । नृपात् । मरुतः । सूर्य-त्वचसः ।

शर्म । यच्छाय । सु-प्रथः ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—( प्रवतः ) हे [अपने] भक्त के ( नृपात् ) न गिराने हारे राजन् !  
और ( सूर्यत्वचसः ) हे सूर्य समान प्रताप वाले ( मरुतः ) शत्रुओं के मारने हारे

२—सखा । १।२०।४। सुहृत्, मित्रम् । रातिः । किञ्चूक्ती च संज्ञायाम् ।  
पा० ३।३। १७४ । इति रा दाने-किञ् । चितः । पा० ६।१। १६३ । इति  
अन्नोदात्तः । उदारः, दाता राजा । इन्द्रः । १।२।३ । परमेश्वर्यवान् । भगः ।  
१।१४। १। भज सेवायाम्-घ । घत्वम् । सर्वैर्भजनीयः, सर्वैः सेवनीयः ।  
सविता । १।१८।२। सर्वप्रेरकः । सर्ववशी, सूर्यवत् प्रतापी । चित्र-  
राधाः । चित्र + राध संसिद्धी-अस्तुन् । राध इति धननाम रान्धुवन्त्यनेनेति  
पास्कः-मि० ४ । ४ । विचित्रधनयुक्तः, अद्भुतधनः ॥

शूरवीर महात्माओ ! ( यूयम् ) तुम सब ( नः ) हमारे लिये ( सप्रथः ) बहुत विस्तीर्ण ( शर्म ) सुख वा शरण ( यच्छाय ) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपने भक्तों की रक्षा करने हारा राजा और महाप्रतापी धर्म-धुरंधर शूरवीर मन्त्री आदि मिल कर प्रजा की सर्वथा रक्षा करके अपने शरण में रखें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अजमेर वैदिक यन्त्रालय और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक के संहिता पाठ में ( सप्रथाः ) पाठ अशुद्ध दीखता है, सायण भाष्य और बंबई के सेवकलाल कृष्णदास शोधित पुस्तक का ( सप्रथः ) पाठ शुद्ध जान कर हमने यहां पर लिया है ॥

सुसूदतं मृडतं मृडया नस्तनुभ्यः ।

मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

सुसूदतं । मृडतं । मृडया । नः । तनुभ्यः । मयः । तोकेभ्यः ।  
कृधि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( सुसूदत ) तुम सब [ हमें ] अंगीकार करो, और ( मृडन ) सुखी करो, [ हे राजन ! ] तू ( नः ) हमारे ( तनुभ्यः ) शरीरों को ( मृडय )

३—यूयम् । प्रवतो नपात् मरुतश्च । प्र-वतः । १ । १३ । २ । भक्तस्य, सेवकस्य । भक्तान् । द्वितीयायां बहुवचनं वा । नपात् । १ १३ । २ । न पातयतीति । हे अपातनशील राजन ! । मरुतः । १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् ते । हे शूरवीराः पुरुषाः । सूर्य-त्वचसः । त्वच संवरणे-असुन् । सूर्यस्य त्वक् संवरणमिव संवरणं येषां ते । सूर्यसमानतेजस्काः । शर्म । १ । २० । ३ । सुखम्, शरणम् । यच्छाय । दाण् दाने-लेट् । प्रयच्छत, दत्त । स-प्रथः । सह + प्रथ ख्यातौ असुन् । प्रथसा सहितं, सविस्तारम् ॥

४—सुसूदत । सूद आश्रुतिहृत्योः । निरासे च । आश्रुतिरङ्गीकारः । इति शब्दकल्पद्रुमः । अङ्गीकृत । मृडत । मृड सुखने । सुखयत । मृडया ।



सुख दे और ( तोकेभ्यः ) बालकों को ( मयः ) आनन्द ( कृधि ) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—महाप्रतापी राजा और सुयोग्य कर्मचारी मिल कर सब प्रजा और उनकी सन्तानों को उत्तम शिक्षा आदि से उन्नति करें और सुख पहुंचाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १ पंक्तिः ८×५, २—४ अनुष्टुप् ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

अमूः पारे पृदाक्ख्विपुप्ता निर्जरायवः ।

तासाम् जरायुभिर्वयमक्षया ३ वपि व्ययामस्य-  
घ्रायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥

अमूः । पारे । पृदाक्कः । त्रि-सुप्ताः । निः-जरायवः । तासाम् ।  
जरायु'-भिः । वयम् । अक्षयौ । अपि । व्ययामसि । अघ्र-योः ।  
पिर-पन्थिनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अमूः ) वह ( त्रिपताः ) तीन [ ऊंचे, मध्यम और नीचे ]  
स्थान में खड़ी हुई, ( निर्जरायवः ) जरायु [ गर्भ की भिल्ली ] से निकली हुई  
( प्रदाक्ख्विपुप्ता ) सर्पिणी [ वा बाघिनी ] रूप शत्रु सेनाये ( पारे ) उस पार [ वर्तमान ]  
हैं । ( तासाम् ) उनकी ( जरायुभिः ) जरायु रूप गुप्त चेष्टाओं सहित [ वर्तमान ]  
( अघ्रायोः ) घुरा चोतने वाले, ( परिपन्थिनः ) उलटे आचरण वाले शत्रु की  
( अक्षयौ ) दोनों आंखों को ( वयम् ) हम ( अपि व्ययामसिः ) ढके देते हैं ॥ १ ॥

सुखम् । तनूभ्यः । १ । १ । १ । शरीरेभ्यः । मयः । १ । १३ । २ । सुखम् । १ ।  
तोकेभ्यः । १ । १३ । २ । अपत्येभ्यः ॥

१—अमूः । परिदृश्यमानाः , ताः । पारे । पार कर्मसमाप्तौ-पचाद्यच्,  
अथवा पृ पूर्ता—घञ् । परतीरे । प्रान्तभागे, सीमाप्रदेशे । पृदाक्कः । पर्दते-  
र्नित् सम्प्रसारणमहोपश्च । उ०३ । ८० । इति पर्द अपानशब्दे—काकु, रेफस्य

भावार्थ —जब शत्रु की सेना अपने पड़ावों से निकल कर घान स्थानों पर ऐसी खड़ी होवे, जैसे सर्पिणी वा याघिनी माता के गर्भ से निकल कर बहुत से उपद्रव फैलाती है, तब युद्ध कुशल सेनापति शत्रु सेना की गुप्त कपट चेटाओं का मर्म समझ कर ऐसी हल चल मचा दे कि शत्रु की दोनों, आँखें हृदय की और मस्तक की मुंद जावे और वह घबराकर हार मान लेंवे ॥ १ ॥

सायणभाष्य में ( निर्जरायवः ) के स्थान में [ निर्जरा इव ] शब्द है ॥

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव विभ्रंती ।

विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघ्रायवः ॥ २ ॥

सम्प्रसारणं अकारलोपश्च । स्त्रियां ऊङ् । उदान्तस्वरितयोर्व्यणः स्वरितींऽनुदा-  
त्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । पर्दंतं कुन्सितं शब्दयति सा, पृदाकूः  
सर्पिणी व्याघ्री वा । सर्पिण्यो व्याघ्र इव वा दुष्टस्वभाः शत्रुसेनाः ।  
त्रि-सप्ताः । १ । १ । १ । त्रि+पप समवायं—क्त । त्रिषु उच्चमध्यमनीच-  
स्थानेषु सम्यद्धाः, स्थिताः । निः-जरायवः । निर्+जरायवः । १ । ११ । ४ ।  
पिद्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । इति जृ-प्, घयोदानौ-अङ्, टाप् ।  
अट्टशोऽङ् गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । जरा, वाद्धयम्, शरीर-  
निर्वलत्वम् । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा+इण् गतौ-ञुण् । जरां  
जीर्णताम् एति जरायुः, गर्भवेष्टनचर्म । निर्गता जरायोः, गर्भवेष्टनात् याः ।  
निर्गतगर्भवेष्टनाः । घातस्थानात् प्रादुर्भूताः । तासाम् । पृदाकूरूपाणां शत्रु-  
सेनानाम् । जरायु-भिः । पूर्ववत्, जरा+इण्-ञुण् । गर्भवेष्टनैः । गुप्तकपट-  
चेष्टाभिः—इति यावत् । वयस् । योद्धारः पुरुषाः । अह्यौ । १ । ८ । ३ । अश्रु  
व्याप्तौ—विस । यद्वा, अक्षु व्याप्तौ-इन्, ततो ङाप् । छान्दसं रूपम् पूर्ववत्  
स्वरितः । अक्षिणी, उभे मानसिकमास्तिकनेत्रे । अपिद्ययामसि । व्यञ्  
संवरणे । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । अपिव्ययामः,  
आच्छादयामः, स्वबुद्धिवलैः प्रमोहयामः । अघ्रायोः । १ । २० । २ । अघं  
परहिंसनमिच्छतीति अघ्रायुः । अनिष्टचारिणः । पापात्मनः । परि-पन्थिनः ।  
छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि । पा० ५ । २ । ८६ । इति परि+पथि  
गतौ—णिनि । निपातितः । युद्धे प्रत्यघस्थातुः, प्रतिकूलाचारिणः, शत्रोः ॥

विषू'ची । एतु । कृन्तुती । पिनाकम्-इव । विभ्रती ।

विष्वक् । पुनः-भुवाः । मनः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यवः ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—( पिनाकम् इव ) त्रिशूल सा ( विभ्रती ) उठाये हुये ( कृन्तती ) काटती हुयी [ हमारी सेना ] ( विषूची ) सब ओर फैल कर ( एतु ) चले । और ( पुनर्भुवाः ) फिर जुड़ कर आयी हुयी [ शत्रु सेना ] का ( मनः ) मन ( विष्वक् ) इधर उधर उड़ाऊ [ हो जावे ] ( अघायवः ) बुरा चीतने वाले शत्रु लोग ( असम्ऋद्धाः ) निर्धन हो जावे ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—जैसे चतुर सेनापति अख शस्त्र वाली अपनी साहसी सेना के अनेक विभाग करके शत्रुओं पर ऋषट कर धावा मारता और उन्हें व्याकुल करके भगा देता है जिससे वह लोग फिर न तो एकत्र हो सकते और न धन जोड़ सकते हैं, ऐसे ही बुद्धिमान् मनुष्य कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों को बश में करके सुमार्ग में चलाने और आनन्द भांगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में ( पुनर्भुवाः ) के स्थान में [ पुनर्भुवाः ] है ॥

न ब्रह्मवः समशकन् नार्भुका अभि दाधूपुः ।

वे गोःरुगा इवाभितोऽसंभृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

८—विषूची । १ । १६ । १ । नानाविधं गच्छन्ती , नानामुष्ठी । एतु । गच्छन्तु । कृन्तती । कृता छेदने-शत्रु । तुदादित्वात् शः । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५६ । इति तुम् , ततो ङीप् । छिन्दती , भिन्दती शत्रुसेना । पिनाकम् । पिनाकादयश्च । ३० ४ । १५ । पा रक्षणे पन स्तुतौ वा—आकप्रत्ययेन निपात्यते । त्रिशूलम् । विभ्रती । १ । १ । १ । दुभृञ् धारणपोषणयोः—शत्रु । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । धारयन्ती । विष्वक् । १ । १६ । १ । नानामुष्यम् , अनवस्थितम् । पुनः-भुवाः । पुनः+भू सत्तायाम्—किप् । पुनः संघ्राभूतायाः पृदाकाः , शत्रुसंनायाः-इत्यर्थः । मनः । चत्तिम् । असम्-ऋद्धाः । ऋथु वृद्धी-क्त । असम्पन्नाः, निर्धनाः । अघायवः । म० १ । अनिष्ट-घ्नन्तकाः शत्रवः ॥

न । ब॒हवः । सम् । अ॒श॒कन् । न । अ॒र्भ॒काः । अ॒भि । द॒धृ॒पुः ।  
वे णोः । अ॒द्गाः—इव । अ॒भितः । अ॒स॒म्—ऋ॒द्धाः । अ॒घ—यवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( न ) न तो ( बहवः ) बहुत से शत्रु ( समशकन् ) समर्थ हुये ( न ) और न ( अर्भकाः ) वह निर्बल हो जाने पर ( अभिदाधृपुः ) कुछ साहस कर सके, ( वेणोः ) वांस के ( अद्गाः ) मालपुत्रों के ( इव ) समान ( अघायवः ) बुरा चाँतने वाले शत्रु ( असमृद्धाः ) निर्धन [ होवें ] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारी दुष्टों को ऐसा वश में करे कि वह पकड़ न हो सकें और न सता सकें, और जैसे नोरस सूखे वांस आदि तृण का भोजन पुष्टिदायक नहीं होता, इसी प्रकार सर्वथा निर्बल कर दिये जावें । इसी प्रकार मनुष्य आत्म शिक्षा करें ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में ( दाधृपुः ) के स्थान में [ दादृशुः ] और ( अद्गाः ) के स्थान में [ उद्गाः ] है ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।

इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुपिता पुरः ॥ ४ ॥

३—बहवः । लङ्घिबन्धोर्नलोपश्च । उ० १ । २६ । इतिग्रहि वृद्धी-कु. नस्य लोपः । विपुलाः, हस्त्यश्वररथपदातियुक्ताः शत्रवः । सम् । सम्यक्, अल्पमपीत्यर्थः । अशकन् । शकल शक्तौ-लुङ् । जेतुं शक्ता अभूवन् । अर्भकाः । अर्चिगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । इति ऋ गतौ-भन् स्वार्थे-कन् । दध्रमभ्रदमित्यल्पस्य । इति यास्कः—निरु० ३ । २० । अल्पाः, निर्बलाः । अभि । आभिमुख्येन । दाधृपु । धृपु संहतौ, हिंसे, प्रागल्भ्ये-लिट् । दीर्घः । धृष्टाः प्रगल्भा बभूवुः । वेणोः । अजिवृरीभ्यो निष्ठा । उ० ३ । ३८ । इति अज गतिक्षेपणयोः—णु । वीभावो गुणश्च । चंशकाण्डस्य नीरसतृणस्य इत्यर्थः । अद्गाः । गन्-गस्यद्योः । उ० १ । १२३ । इति अद् भक्षणे-गन् । अघते भक्षयते स अद्गः । पुरो-डाशाः । अभितः । सर्वतः । अन्यद् व्याख्यातम् । म० २ ॥

प्र । इतस् । पादौ । प्र । स्फुरतस् । वहतस् । पृणतः । गृहान् ।  
इन्द्राणी । एतु । प्रथमा । अजीता । अमुषिता । पुरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पादौ) हे हमारे दोनों पांव (प्रेतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) फुरती करे जाओ, (पृणतः) तृप्त करने वाले (गृहान्) कुटुम्बियों के पास [ हमें ] (वहतम्) पहुंचाओ । (प्रथमा) अपूर्व वा विख्यात (अजीता=अजिता) विना जीती और (अमुषिता) विना लूटी हुई (इन्द्राणी) इन्द्र की शक्ति, महा सम्पत्ति (पुरः) [ हमारे ] आगे आगे (एतु) चले ॥ ४ ॥

भावार्थ—१. महा प्रतापी शूर वीर पुरुषार्थी राजा विजय करके और बहुत धन प्राप्त करके सावधान होकर अपने घर को लौटे, और अपने मित्रों में अनेक प्रकार से उन्नति करके सुख भोग करे ॥

२—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मस्थ परमेश्वर के दर्शन से परोपकार करके सुख प्राप्त करे ॥ ४ ॥

(इहेन्द्राणीमुपहये वरुणानीं स्वस्तये) ऋ० १।२२।१२।

इस मन्त्र में (इन्द्राणी) इन्द्र सूर्य वा वायु की शक्ति और (वरुणानी) वरुण जल की शक्ति ऐसा अर्थ श्रीमद् दयानन्द भाष्य में है ॥

४—प्र+इतस् । इण् गतौ—लोट् । युवां प्रकर्षेण गच्छतम् । पादौ ।  
हे मम पादौ । स्फुरतस् । स्फुर स्फुर्तां, चलने च—लोट् । शीघ्रं चलतम् ।  
वहतस् । वह प्रापणे—लोट्, द्विकर्मकः । अस्मान् प्रापयतम् । पृणतः । पृण  
तर्पणे, तुदादिः—शतृ । तर्पयितृन् सुखयितृन् पुरुषान् । गृहान् । पुंलिङ्गम् ।  
गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने—क । दारान् दागदीन् गृहस्थान्  
प्रति । इन्द्राणी । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी—निरु० ११ । ३७ । इन्द्रस्य विभूतिः—  
इति दुर्गाचार्यस्तद्वृत्तौ । इन्द्रवरुणभवशर्व० । पा० ४ । १ । ४६ । इति इन्द्र-  
ङीप् आनुक् च । इन्द्रस्य पेश्वर्यशालिनः पत्नी पालयित्री शक्तिः । महासमृद्धिः  
महालक्ष्मीः । एतु । इण्—गतौ । गच्छतु । प्रथमा । १ । १२ । १ । अपूर्वा ।  
प्रख्याता, उत्कृष्टा । अजीता । जि-क्त । सांहितिको दीर्घः । अनिर्जिता,  
अपराभूता । अमुषिता । मुष वधे, लुण्ठने—क्त । अनपहता । पुरः । पुर-  
स्तात् । अस्माकम् अग्ने ॥

## सूक्तम् २८ ॥

१—४ । अग्निदेवता । १-३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ।

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।

दहनप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

उप । प्र । अगात् । देवः । अग्निः । रक्षः-हा । अमीव-चातनः ।

दहन । अप । द्वयाविनः । यातु-धानान् । किमीदिनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रक्षोहा) राक्षसोंका मार डालने वाला (अमीवचातनः) दुःख मिटाने वाला (देवः) विजयी (अग्निः) अग्नि रूप सेनापति (द्वयाविनः) दुमुझे कपटी, (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले (किमीदिनः) यह क्या है यह क्या है ऐसा करने वाले छली सूत्रकों वा लंपटों को (अप दहन) मिटाकर भस्म करता हुआ (उप) हमारे समीप (प्र-अगात्) आ पहुंचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जय सेनापति अग्नि रूप होकर शतघात [तोप] भुगुण्टी [बन्दूक] धनुष् घाण तरवारि आदि अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं का नाश करता है तब राज्य में शान्ति रहती है ॥ १ ॥

१—अगात् । इण गतौ-लुङ् । अगमत् । देवः । १ । ७ । १ । विजयी । अग्निः । अग्निवत् तेजस्वी सेनापतिः । रक्षः-हा । रक्ष पलने-अपादाने, अष्टुन् रक्षो रक्षितव्यमस्मात् । इति यास्कः-निरु ४ । १२ । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । १२ । २२ । इति रक्षः+हन-फिप् । हिंसकानां क्न्ता । अमीव-चातनः । इणशीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति यादुलकात् अम रोगे-वन्, ईडागमः । अमीवं दुःखम् । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । दुःखानां नाशयिता । अप+दहन । दह-शत्रु । संतापयन्, । भस्मसात् कुर्वन् । द्वयाविनः । द्वयं वाचिकं माधुर्यं मानसिकं हिंसनं च येयामस्तीति । बहुलं छन्दसि ॥ पा० ५ । २ । १२२ । इति द्वय-विनिप्रत्ययः । दीर्घश्च । मःयाविनः । यातु-धानान् । १ । ७ । १ । पीडाप्रदान् । किमीदिनः, । १ । ७ । १ । पिशुनान्, कपटिनः, सूचकान् ॥

प्रति दह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।

प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

प्रति । दह । यातु-धानान् । प्रति । देव । किमीदिनः ।

प्रतीचीः । कृष्ण-वर्तने । सम् । दह । यातु-धान्यः ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(देव) हे विजयी सेनापति (यातुधानान्) दुःखदायी और द्वारा (किमीदिनः) क्या क्या करने हारे छली सूचकों को (प्रति) एक एक करके (प्रतिदह) जला दे। (कृष्णवर्तने) हे धूँआ धाड़ मार्गवाले अग्नि रूप सेनापति (प्रतीचीः) सन्मुख धावा करती हुयी (यातुधान्यः=०-नीः) दुःखदायिनी शत्रु सेनाओं को (सम् दह) चारों ओर से भस्म करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्धकुशल सेनापति अपने घातस्थानों से तोप तुपक आदि द्वारा अग्नि के समान धुआं धाड़ करता हुआ शत्रुओं के मुखियाओं और सेनादलों को व्याकुल करके भस्म कर देवे ॥ २

सायण भाष्य में (कृष्णवर्तने) के स्थान में [कृष्णवर्तमने] पद और उस का अर्थ [हे कृष्णवर्तमन्] है ॥

या शशाप शपनेन याघं मूरमादुधे ।

या संस्य हरणाय जातमारिभे लोकमत्तु सा ॥३॥

२—प्रति । प्रतिमुखम् । प्रत्येकम् । दह । भस्मीकुरु, यातु-धानान् । म० १ । पीडादातृन्, राक्षरान् । देव । म० १ । हे विजयशील । किमीदिनः । म० १ । पिशुनान् । प्रतीचीः । ऋत्विग्दधूक० । पा० ३ । ३ । ५६ । इति । प्रति + अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन् । नलोपः । डीप् । यथा विपूचीः शब्दः, १ । १६ । १ । प्रतिकूलं गच्छन्तीः । कृष्ण-वर्तने । वृतेष्व । उ० २ । १०६ । इति वृत्तवर्तने-अनि । कृष्णा कृष्णावर्णा शतघ्नी भुशुण्ड्यादिप्रसारितधूमेन वर्तनिः वर्तिः पन्थाः यस्य सः, अग्निर्वा । हे कृष्णमार्ग, अग्निरूपसेनापते । सम् । सम्यक्, सर्वथा । यातु-धान्यः । पुंयोगादाख्यायाम् । पा० ४ । १ । ४८ । इति यातु-धान-डीप्, शसः स्थाने लृन्दसि जस् । यणि कृते स्वरितः । यातुधानीः पीडा-दायिनीः शत्रुसेनाः ॥

या । शृशार्प । शर्पनेन । या । अघम् । मूरम् । आ-दधे ।  
या । रसस्य । हरणाय । जातम् । आ-रेभे । तोकम् । अत्तु । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शर्पनेन) शाप [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिस ने (अघम्) दुःख की (मूरम्) मूल को (आदधे) आकर जमाया है । और (या) जिस ने (रसस्य) रसके (हरणाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) हाथ लगाया है, (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा सन्तान को (अत्तु) खालेवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—रण क्षेत्र में जब शत्रु सेना कोलाहल मचाती, धावा मारती और लूट खसोट करती आगे बढ़ती आवे, तो युद्धकुशल सेनापति शत्रुओं में भेद डाल दे कि वह लोग आपस में लड़ मरें और अपने सन्तान अर्थात् दितकारियों का ही नाश करदे ॥ ३ ॥

सायण भाष्य में (आदधे) के स्थान में [आदधे] पाठ है ॥

३—या । यातुधानी शत्रुसेना । शशाप । शप आक्रोशे—लिट् । शापं । अनिष्टकथनं कृतवती । शर्पनेन । शप आक्रोशे—करणे ल्युट् । आक्रोशेन, कुवचनेन । अघम् । अघ पापकरणे—णिच्—अच् । पापं . दुःखम् । दुःखकरम् । मूरम् । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मुर्धा मोहसमुच्च्राययोः—क्विप् । राल् लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति छकारलोपः । मूर्धाकरम् । यद्वा । मूल, प्रतिष्ठायाम्, रोपणे-कु, लस्य रकारः । मूलम् । प्रतिष्ठाम् । अघं मूरम् । दुःखकरं मूलं शरणम् । आ-दधे । आङ्+डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लिट् । परि जग्राह । रसस्य । रस आस्वादे-पचाद्यच् । सारस्य, बलस्य, धनस्य, आनन्दस्य । हरणाय । अपहरणाय, नाशनाय । जातम् । जनी प्रादुर्भावे-क्त । अस्माकं समूहम् । आ-रेभे । आङ्पूर्वात् लग्न श.लम्भे=स्पर्शे-लिट्, लस्य रकारः । आलेभे, स्पृष्टवती । तोकम् । १ । १३ । २ । वृद्धिकरं । सन्तानम् । अत्तु । अत्तयतु नाशयतु । सा । शत्रुसेना ।



पुत्रमस्तु यातुधानीः स्वसारमुत नृपत्यम् ।  
अधो मिथो विकेश्यो ३' वि घ्नतां यातुधान्यो ३'  
वि तृह्यन्तामराध्यः ॥ ४ ॥

पुत्रम् । अस्तु । यातु-धानीः । स्वसारम् । उत । नृपत्यम् ।  
अधो । मिथः । वि-केश्यः । वि । घ्नताम् । यातु-धान्यः ।  
वि । तृह्यन्ताम् । अराध्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( यातुधानीः=०—नी ) दुःख दायिनी, [शत्रुसेना] ( पुत्रम् )  
[अपने] पुत्र को. (स्वसारम्) भली भांति काम पूरा करने हारी बहिन को (उत)  
और ( नृपत्यम्=नृपीम् ) नातिनी वा धेवती को (अस्तु) खालेवे अर्थात् नष्ट  
करे । (अध) और (विकेश्यः) केश विखरे हुये वह सब [सेनायें] (मिथः)आपस  
में ( विघ्नताम् ) मर मिटें और (अराध्यः) दान अर्थात् कर न देने हारी (यातु-  
धान्यः) दुःख पहुंचाने हारी [शत्रु प्रजायें] (वितृह्यन्ताम् ) विविध प्रकार के दुःख  
उठावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति राजा अपनी बुद्धि बल से दुष्ट शत्रुसेना में  
हलचल मचादे कि वह सब घबराकर आपस में कट मर कर एक दूसरे को  
सताने लगें और जो प्रजा गण हट दुराग्रह करके, कर आदि न दें उन को दण्ड  
देकर वश में कर लेवे ॥ ४ ॥

४—पुत्रम् । १।११।५। स्वसुतम् । यातु-धानीः । म० २। प्रथमैक-  
वचनं छन्दसि यथा श्रीः । यातुधानी, दुःखप्रदा, शत्रुसेना । स्वसारम् ।  
सावसेर्ङ्गन् । उ० २। ६६। इति सु + अस्तु क्षेपणे-ऋन् । सुष्ठु अस्यति समा-  
प्नोति कार्याणि सा स्वसा । भगिनीम् । उत । अपि च । नृपत्यम् । नृपतेः ष्ट्वत्त्वष्ट-  
होतृ० उ० २। ६५ । इति न + पत अधोगमने-तृच् । न पतति वंशो यस्मात् स  
नस्ता । ऋन्नेभ्योर्ङाप् । पा० ४। १। ५। इति नृपशब्दात् ङीप् । वा छन्दसि ।  
पा० ६। १। १०६। इति पूर्व रूपस्य विकल्पाद् यणादेशः । नम्रीम्, पौत्रीं दौहि-  
त्रीं वा । अध । यस्य धः । अथ, अनन्तरम् । मिथः । मिथ वधे, मेधायाम्-

तीनों संहिताओं में ( यातुधानीः ) सविसर्ग पाठ लेकर प्रमाद दीक्षता है ।  
सायण भाष्य में ( यातुधानी ) विसर्ग रहित व्याख्यात है वह ( अत्तु ) क्रिया  
के संबन्ध में ठीक है ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

## अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥



सूक्तम् २८ ।

१—६ ॥ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

अभि-वर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावुधे ।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पते ऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अभि-वर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभि-ववुधे ।

तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय । वर्धय ॥ १ ॥

भाषार्थ—( येन ) जिस ( अभिवर्तेन ) विजय करने वाले , ( मणिना )  
मणि से [ प्रशंसनीय सामर्थ्य वा धन से ] ( इन्द्रः ) बड़े पेश्वर्य वाला पुरुष

असुन्, पृषोदरादित्वात् इत्थः । अन्योऽन्यम् परस्परम् । वि-केश्यः । स्वाहा-  
ञ्चोपसर्जनाद सं० । पा० ४ । १ । ५४ । इति विकेश-ङीप् । विकीर्णकेशयुक्ताः  
परस्परताडने न वि । विविधम् । प्रताम् । एन हिंसागत्योः-लोटि चट्-  
बचने । हन्यन्ताम् । प्रियन्ताम् । यातुधान्यः । म० १ । पीडाप्रदाः शत्रुसेनाः ।  
तृह्यन्ताम् । तृह हिंसायाम्-कर्मणि लोट् । हिंस्यन्ताम् । अराय्यः ।  
रा दाने-घञ् युक् आगमः, ङीप् । अदानशीलाः प्रजाः ॥

१अभि—वर्तेन । अकर्तरि च कारके संशायाम् । पा० ३ । ३ । १६ । इति  
अभि + वृत्तु वर्तने भवने—घञ् छान्दसो दीर्घः । अभिवर्तते अभिभवति शत्रून्

( अभि ) सर्वथा ( ववृधे ) बढ़ा था । ( तेन ) उसी से , ( ब्रह्मणस्पते ) हे वेद वा ब्रह्मा [ वेदवेत्ता ] के रक्षक परमेश्वर ! ( अस्मान् ) हम लोगों को ( राष्ट्राय ) राज्य भोगने के लिये ( अभि ) सब ओर से ( वर्धय ) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार हम से पहिले मनुष्य उत्तम सामर्थ्य और धन को पाकर महा प्रतापी हुये हैं, वैसे ही उस सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर के अनन्त सामर्थ्य और उपकार का विचार करके हम लोग पूर्ण पुरुषार्थ के साथ (मणि) चिन्ताधन और सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति से सर्वदा उन्नति करके राज्य का पालन करें ॥ १ ॥

मन्त्र १-३, ६ ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १७४ । म० १-३ और ५ कुछ भेद से हैं । जैसे ( मणिना ) के स्थान में [ हविषा ] पद है, इत्यादि ॥

अभिवृत्त्यं सपत्नान् अभि या नो अरातयः ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठामि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अभिवृत्त्यं । स-पत्नान् । अभि । याः । नः । अरातयः ।

अभि । पृतन्यन्तंम् । तिष्ठ । अभि । यः नः । दुरस्यति ॥ २ ॥

भाषार्थ—[ हे ब्रह्मणस्पते ] ( सपत्नान् ) [ हमारे ] प्रतिपक्षियों को, और ( याः ) जो ( नः ) हमारी ( अरातयः ) कर न देने हारी प्रजायें हैं,

न अभिवर्तः । अभिभवनशीलेन , जयशीलेन । मणिना । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मण कृजे—इन् । रत्नेन , प्रशंसनीयसामर्थ्येन धनेन, वा राजचिन्हेन । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमेश्वर्यवान् पुरुषो जीवः । अभि-ववृधे । वृधु वृद्धौ—लिट् तुजादीनां दीर्घाऽभ्यासस्य । पा० ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । अभिनः सर्वतः प्रवृद्धो बभूव । तेन । मणिना । ब्रह्मणः+पते । १ । ८ । ४ । १ । १ । १ । पठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । हे ब्रह्मणो वेदस्य विप्रस्य वा पालक परमेश्वर । । राष्ट्राय । सर्वधातुभ्यः ष्ट्वन् । उ० ४ । १५६ । इति राज् दीप्ती ऐश्वर्ये च ष्ट्वन् । राजति ऐश्वर्यकर्मानिघ० २ । २१ । अत्रचभ्रजसृज० । पा० ८ । २ । ३६ । इति पः । राज्यवर्धनाय वर्धय । वृधु वृद्धौ—शिच् लोट् । समर्थय , समृद्धान् कुरु ॥

- ० [ उनको ] ( अभि ) सर्वथा ( अभिवृत्य ) जीतकर ( प्रतन्यन्तम् ) सेना चढ़ा कर लाने वाले शत्रु को [ और उस पुरुष को ] ( यः ) जो ( नः ) हम से ( दुरस्यति ) दुष्ट आचरण करे , (अभि)सर्वथा (अभि तिष्ठ) तू दया ले ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर पर श्रद्धा कर के अपने स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं को यथा योग्य दंड देकर वश में रखे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अरातयः) शब्द का अर्थ ऋ० १०। १७४। २। में सायणाचार्य ने भी अदानशील प्रजा किया है ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।

अभि त्वा विश्वा भूतान्यभिवर्तौ याथासंसि ॥ ३ ॥

अभि । त्वा । देवः । सविता । अभि । सोमः । अवीवृधत् ।

अभि । त्वा । विश्वा । भूतानि । अभि-वर्तः । यथा । असंसि ॥३॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर ! ] ( देवः ) प्रकाशमय ( सविता ) लोकों के चलाने हारे, सूर्य और ( सोमः ) अमृत देने वाले, चन्द्रमा ने ( त्वा ) तेरी

२—अभि-वृत्य । अभि+वृत्—ल्यप् । अभिभूय , पराजित्य । स-पत्नान् । १ । ६ । १ प्रतियोगिनः स्वदेशिनः शत्रून् । अभि । अभितः । सर्वथा । याः । ताः याः । अरातयः । १ । २ । २ । अदानशीलाः प्रजाः । इति साय-णोऽपि ऋ० १० । १७४ । २ । अभि+तिष्ठ । अभिभव, पराजय, त्वं ब्रह्मणस्पते । पृतन्यन्तम् । १ । ३१ । २ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । २ । इति पृतना क्यच्-शतृ । पृतनाः सेना आत्मानमिच्छन्तं युयुत्सुम् । यः = तम् यः । नः । अस्मान् । दुरस्यति । दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिपण्यति । पा० ७ । ४ । ३६ । इति क्यच्चि दुष्ट शब्दस्य दुरस् भावो निपात्यते । दुष्टीयति दुष्टम् । अनिष्टं कर्तुमिच्छति ॥

३—अभि । अभितः सर्वतः । त्वा । त्वाम् ब्रह्मणस्पतिम् । देवः । प्रकाशमयः । सविता । १ । १२ । २ । सूर्यः । सोमः । १ । ६ । २ । सवति अमृ-

(अभि अभि ) सब प्रकार से ( अवीवृधत् ) बड़ाई की है । और ( विश्वा ) सब ( भूतानि ) सृष्टि के पदार्थों ने (त्वा) तेरी (अभि) सब प्रकार [बड़ाई की है,] ( यथा ) फ्यों कि त् (अभिवर्तः) [शत्रुओं का ] दबाने वाला (अससि) है ॥३॥

भावार्थ—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों की रचना और उपकार से उस परमेश्वर की महिमा दीख पड़ती है, उसी अन्तर्यामी के दिये हुये आत्मबल से शूर वीर पुरुष रणभूमि में राक्षसों को जीत कर राज्य में शान्ति फैलाते हैं ॥ ३ ॥

अभि॒वर्तो॑ अभि॒भुवः॑ स॒पत्न॒क्षय॑णो म॒णिः ।

रा॒ष्ट्राय॑ मह्यं॑ व॒ध्यतां॑ स॒पत्ने॑भ्यः प॒रा॒भुवे॑ ॥ ४ ॥

अभि॒वर्तः॑ । अभि॒भुवः॑ । स॒पत्न॒क्षय॑णः । म॒णिः ।

रा॒ष्ट्राय॑ । मह्य॑स् । व॒ध्यता॑म् । स॒पत्ने॑भ्यः । प॒रा॒भुवे॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अभिवर्तः) शत्रुओं का जीतने वाला, और (अभिभवः) हराने वाला, और ( सपत्नक्षयणः ) प्रतिपक्षियों का नाश करने वाला ( मणिः ) मणि [ प्रशंसनीय सामर्थ्य ] रत्न आदि राज्य चिन्ह ( मह्यम् ) मुझपर ( राष्ट्राय )

तम् । चन्द्रः । अवीवृधत् । घृधुवृद्धौ, शिच-लुङ् । वर्धितवान्, अस्तावीत् । अभि=अभि अवीवृधन् अस्तुवन् । विश्वा । शेरुक् । विश्वानि सर्वाणि । भूतानि । प्राणिजातानि, चराचरात्मकानि वस्तून्, तत्त्वानि । अभिवर्तः— । म० १ । घृनु-घञ् । अभिभविता, शत्रुजेता । यथा । यस्मात् कारणात् । अससि । अस्म भुवि-लट् । घटुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । इति शपोऽलुक् । असि भवसि ॥

४—अभिवर्तः । म० १ । जयशीलः । अभिभवः । अभि + भू-अप् । अभिभविता । सपत्न-क्षयणः । नन्दिग्रहपचादिभ्यो ल्युणिन्यच्चः । पा० ३ । १ । १३४ । इति सपञ्च पूर्वात् क्ति क्षये-कर्तरि ल्यु । शत्रूणां क्षयकरः । मणिः ।

राज्य की वृद्धि के लिये और ( सपत्नेभ्यः ) वैरियों को ( पराभुवे ) दवाने के लिये ( बध्यताम् ) बांधा जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राज्य लक्ष्मी का प्रभाव जताने के लिये राजा मणि रत्न आदि को धारण करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे और राज सभा में राज सिंहासन पर विराजे कि जिससे शत्रु दल भयभीत होकर आक्षाकारी बने रहें और राज्य में पेश्वर्य की सदा वृद्धि होवे ॥ ४ ॥

उत्सौ सूर्यो अगाद्दुद्दिदं मामकं वचः ।

यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

उत् । उत्सौ । सूर्यः । अगात् । उत् । इदम् । मामकम् । वचः ।  
यथा । अहम् । शत्रु-हः । असानि । असपत्नः । सपत्न-हा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(उत्सौ) वह (सूर्यः) लोकों का चलाने हारा सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है और ( इदम् ) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्=उत् अगात्) उदय हुआ है (यथा) जिस से कि (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का

म० १ । रत्नम् । प्रशस्तं समर्थम् । राष्ट्राय । म० १ । राज्यवर्धनाय । महद्यम् ।  
मदर्थम् । बध्यताम् । बन्ध बन्धने, कर्मणि लोट् । धार्यताम् । सपत्नेभ्यः ।  
शत्रुभ्यः । पराभुवे । परा+भू-भावे क्तिप् । पराभवनाय ॥

५—उत्+अगात् । १ । २८ । १ । उदितवान् । सूर्यः । १ । ३ । ५ ।  
लोकानां प्रेरकः । आदित्यः, राज्यलक्ष्मीरूपः । उत्=उत् अगात् । इदम् ।  
वक्ष्यमाणं वचनम् । मामकम् । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति अस्मद्  
अण् । तवकममकावेकवचने । पा० ४ । ३ । ३ । इति ममकादेशः । मदीयम् ।  
वचः । वच कथने-असुन् । वाक्यम् वचनम् । यथा । येन कारणेन ।  
अहम् । राजा । शत्रु-हः । अशिपि हनः । पा० ३ । २ । ४६ । इति शत्रु+हन  
हिंसागत्योः-डप्रत्ययः । शत्रूणां हन्ता । असानि । अस सत्तायां-लोट् । अहं

मारने वाला, और ( सपत्नहा ) रिपु दल का नाश करने वाला होकर ( अस-  
पत्नः ) शत्रु रहित ( असानि ) रहूं ॥ ५ ॥

भाषार्थ—राजा राज सिंहासन पर विराज कर राजघोषणा करे कि  
जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य प्रकाशित है उसी प्रकार से यह राज घोषणा  
[ ढंडारा ] प्रकाशित की जाती है कि राज्य में कोई उपद्रव न मचावे, और न  
अराजकता फैलावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० १०। १५६। १। का पूर्वार्ध है वहां ( वचः ) के  
स्थान में ( भगः ) हैं ॥

सुपत्नक्षयणो वृषाभिराण्टो विषासुहिः ।

यथाहमे पां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

सुपत्न-क्षयणः । वृषा । अभि-राष्ट्रीय । वि-सुसुहिः ।

यथा । अहम् । एषाम् । वीराणाम् । वि-राजानि । जनस्य । च ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( यथा ) जिस से कि ( सपत्नक्षयणः ) शत्रुओं का नाश करने  
वाला ( वृषा ) पेश्ये वाला ( विषासुहिः ) सदा विजय वाला ( अहम् ) मैं  
( अभिराष्ट्रः ) राज्य पाकर ( एषाम् ) इन ( वीराणाम् ) वीर पुरुषों का ( च )  
और ( जनस्य ) लोकों का ( विराजानि ) राजा रहूं ॥ ६ ॥

भगानि । असपत्नः । म० २ । शत्रुरहितः । सपत्नहा । क्विप् । पा० ३। २ ।  
७६ । इति सपत्न + हन-क्विप् । रिपुहन्ता ॥

६—सपत्न-क्षयणः । म० ४ । शत्रुनाशकः । वृषा । १ । १२ । १ । वृषु  
पेश्ये-कनिन् । पेश्येयवान् । सुखवर्षकः । इन्द्रः । महावती । अभि-राष्ट्रः ।  
म० १ । अभिगतराज्यः । प्राप्तराज्यः । विषासुहिः । सहिवहिवलिपतिभ्यो  
यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति षह अभिभवे-क्वि ।  
अत्रालोपयलोपौ । वित्रिध्रं पुनः पुनः परेषां सोढा , अभिभविता । एषाम् ।  
उपस्थितानाम् । वीराणाम् । वीर विक्रान्तौ-पचायच् । विक्रान्तानां , शूरा-  
णाम् , भद्रानाम् । वि-राजानि । राजति=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ईश्वरः

भावार्थ—राजा सिंहासन पर विराज कर राजघोषणा करते हुये शूरवीर योद्धाओं और विद्वान् जनों का सत्कार और मान करके शासन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१—४ ॥ विश्वे देवा देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के उपदेश ॥

विश्वे देवा वसवो रक्षते ममुतादित्या जागृत यूय-  
मस्मिन् । मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्ममं प्रापत्  
पौरुषेयो वधो यः ॥ १ ॥

विश्वे । देवाः । वसवः । रक्षते । इमम् । उत । आदित्याः ।  
जागृत । यूयम् । अस्मिन् । मा । इमम् । स-नाभिः । उत ।  
वा । अन्य-नाभिः । मा । इमम् । प्र । आपत् । पौरुषेयः ।  
वधः । यः ॥ १ ॥

भावार्थ—( वसवः ) हे श्रेष्ठ ( विश्वे ) स्वयं ( देवाः ) प्रकाशमान महा-  
त्माओ ! ( इमम् ) इस पुरुष की ( रक्षते ) रक्षा करो, ( उत ) और ( आदित्याः )  
हे सूर्य समान तेज वाले विद्वानो ! ( यूयम् ) तुम ( अस्मिन् ) इस राजा के  
विषय में ( जागृत ) जागते रहो । ( सनाभिः ) अपने वन्धु का, ( उत वा )

शासिता भवानि । जनस्य । जनी प्रादुर्भावे-अच् । अर्धागर्थदयेपां कर्मणि ।  
पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । लोकस्य, प्राणिजातस्य ॥

१—देवाः । १ । ७ । १ । विजयिनः पुरुषाः । वसवः । १ । ६ । १ । निवा-  
सयितारः । प्रशस्ताः श्रेष्ठाः । रक्षते । पालयते । इमम् । माम् राजानम् ।  
आदित्याः । १ । ६ । १ । विद्यादिशुभगुणानां रसस्य आदातारो ग्रहीतारः ।  
अथवा आदित्यवत् तेजस्विनः महाविद्वांसः । जागृत । जागृ निन्द्राक्षये—  
लोट् । प्रबुद्धा रक्षार्थम् अवहिताः संनद्धा भवत । मा । निषेधे । स-नाभिः ।



अथवा ( अन्यनाभिः ) अवन्यु का, अथवा ( पौरुषेयः ) किसी और पुरुष का किया हुआ, ( यः ) जो ( वधः ) वध का यत्न है [ वह ] ( इमम् ) इस ( इमम् ) इस पुरुष को ( मा मा ) कभी न ( प्रापत् ) पहुंच सके ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुपरीक्षित न्याय, मन्त्री और युद्ध मन्त्री। आदि कर्मचारी शूरवीरों को राज्य की रक्षा के लिये सदा चेतन्य करता रहे कि कोई सजाती वा स्वदेशी वा विदेशी पुरुष प्रजा में अराजकता न फैलावे ॥ ३ ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुते द-  
मुक्तम् । सर्वेभ्यो वः परि ददाम्ये तं स्वस्त्ये नं जरसे  
वहाथ ॥ २ ॥

ये । वः । देवाः । पितरः । ये । च । पुत्राः । स-चेतसः । मे ।  
शृणुते । इदम् । उक्तम् । सर्वेभ्यः । वः । परि । ददामि ।  
एतम् । स्वस्ति । एनम् । जरसे । वहाथ ॥ २ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे विजयी देवताओं। और ( ये ) जो ( वः ) तुम्हारे  
( पितरः ) पितृगण ( च ) और ( ये ) जो ( पुत्राः ) पुत्रगण हैं, वह तुम सब  
( सचेतसः ) सावधान हो कर ( मे ) मेरे ( इदम् ) इस ( उक्तम् ) वचन को

नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । इति एह वधने-कर्मणि इञ् समानस्य सः । समा-  
नेन स्वकीयेन संबद्धः । स्वजातिकृतो वधः । अन्य-नाभिः । अन्येन संबद्धः ।  
अज्ञातिकृतो वधः प्र+आपत् । आप्ल व्याप्तौ—लुङि । प्राप्नोतु । पौरुषेयः ।  
सर्वपुरुषाभ्यां णडञौ । पा० ५ । १ । १० । इत्यत्र । पुरुषाद् वधविकारसञ्ज्ञ-  
तेनकृतेषु । वार्तिकम् । इति पुरुष-डञ् । पुरुषकृतः । वधः । १ । २० । २ ।  
हननम् । हिंसनप्रयोगः ॥

२—पितरः । १ । २ । १ । पालकाः, उत्पादकाः । पुत्राः । १ । ११ । ५ ।  
आत्मजाः । स-चेतसः । समान + चित्तां दाने—असुन् । समानस्य छन्दसि० ।  
पा० ६ । ३ । ८४ । इति सभावः । समानचित्ताः, एकमनस्काः । शृणुत । श्रु-

( शृणुत ) सुनो । ( सर्वेभ्यः वः ) तुम सब को मैं ( पतम् ) इसे [ अपने को ] ( परि ददामि ) सौंपता हूँ ( एनम् ) इस पुरुष के लिये [ मेरे लिये ] ( स्वस्ति ) कल्याण और मङ्गल ( जरसे ) स्तुति के अर्थ ( वहाथ ) तुम पहुँचाओ ॥ २ ॥

**भावार्थ—**जो बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रचित् विजयशील वृद्ध, युवा और ग्रहचारियों की सेवा में आत्म समर्पण करता है वह पुरुष उन महात्माओं के सत्संग, उपदेश और सत्कर्मों से लाभ उठाकर संसार में अपनी स्तुति फैलाता है ॥ २ ॥

**टिप्पणी—**( जरसे ) शब्द का अर्थ 'स्तुतिके लिये' निघंटु ३ । १४ । निरु० १० । ८ । और सायणभाष्य ऋग्वेद १ । २ । २ । के प्रमाण से किया है । यहां पर सायणभाष्य में "जरायै, जराप्राप्तियर्यन्तम् । बुढ़ापे के लिये, बुढ़ापे के आने तक" जो अर्थ है वह असंगत है, वेद में जीवन को स्वस्थ और स्तुति-योग्य रखने का उपदेश है । देखो—अथर्ववेद, का० ६ सू० १२० म० ३ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तुन्व १ः स्वैयाः ।  
अश्लोणा अङ्गै रहु ताः स्वर्गं तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

जहां पर पुरयात्मा मित्र अपने शरीर का रोग छोड़ कर आनन्द भोगते हैं ,

श्रवणे—लोट् । आकर्णयत । हृदस् । वक्ष्यमाणम् । उक्तम् । वच कथने—क । वचिस्वपियजादी० । पा० ६ । १ । १५ । इति संप्रसारणम् । वचनम् । वः । युष्मभ्यम् । परिददामि । रक्षणार्थं दानं परिदानं समर्पणम् । रक्षितुं प्रयच्छामि, समर्पयामि । एतस् । आत्मानम् । स्वस्ति । सावसेः । उ० ४ । १८१ । सु + अक्ष सत्तायां—ति । आशीर्वादम्, क्षेमम् । एनस् । माम् प्रति । जरसे । जरतेस्तौतीत्यर्चतिकर्माणौ— निघ० ३ । १४ । जरा स्तुतिर्जरते—स्तुतिकर्मणः । निरु० १० । ८ । यथा । वाय उद्यथे भिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः । ऋ० १ । २ । २ । जरन्ते = स्तुवन्ति, जरितारः = स्तोतारः, इति सायणस्तद्भाष्ये । जृ स्तुतौ, नैरुक्तधातुः । यद्वा । गृ शब्दे = स्तुतौ असुन्, गकारस्य जकारः । स्तुत्यर्थम् । प्रशंसाप्राप्त्यर्थम् । वहाय । वह प्रापणे—लेट् । द्विकर्मकः । यूयं प्रापयत ॥

वहाँ पर स्वर्ग में बिना लंगड़े हुये और अंगों से बिना टेढ़े हुये हम माता पिता और पुत्रों को देखते रहें ।

और देखो यजुर्वेद २५ । २१ । तथा ऋग्वेद १ । ८६ । ८ ।

भुङ्गं कर्णोभिः शृणुयाम देवा भुङ्गं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।  
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाथ संस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

हे विद्वान् जनो ! कानों से हम शुभ सुनते रहें, हे पूज्य महात्माओ ! आंखों से हम शुभ देखते रहें । टंड अङ्गों और शरीरों से स्तुति करते हुये हम लोग वह जीवन पावें जो विद्वानों का हितकारक है ॥

ये देवा दिवि पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे ओषधीषु पशुष्वप्स्वरन्तः । ते कृणुत जरसमायुररमैशतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥

ये । देवाः । दिवि । स्थ । ये । पृथिव्याम् । ये । अन्तरिक्षे ।  
ओषधीषु । पशुषु । अप्सु । अन्तः । ते । कृणुत । जरसम्  
आयुः । अस्मै । शतम् । अन्यान् । परि । वृणक्तु । मृत्यून् ॥३॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे विद्वान् महात्माओ ! ( ये ) जो तुम ( दिवि ) सूर्य लोक में, ( ये ) जो ( पृथिव्याम् ) पृथिवी में, ( ये ) जो ( अन्तरिक्षे ) आकाश वा मध्यलोक में, ( ओषधीषु ) ओषधियों में, ( पशुषु ) सब जीवों में और ( अप्सु ) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं वा जल में ( अन्तः ) भीतर ( स्थ ) वर्तमान हो । ( ते ) वह तुम ( अस्मै ) इस पुरुष के लिये ( जरसम् ) कीर्तियुक्त

३—देवाः । हे दिव्यगुणाः । दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः । दिवि । दिव्य क्रीडा-  
विजिगीषाकान्तिगत्यादिषु-क्लिप् । प्रकाशे सूर्यसमानलोके । स्थ । अस भुवि  
लट् । भवथ, वर्तध्वे । पृथिव्याम् । १ । २ । १ । विस्तृतायां प्रख्यातायां वा  
भूमौ । अन्तरिक्षे । अन्तः सूर्यपृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते । अन्तर् + ईक्ष् दर्शने-कर्मणि

( आयुः ) जीवन ( कृणुत ) करो, [ यह पुरुष ] ( अन्यान् ) दूसरे प्रकार के ( शतम् ) सौ ( मृत्यून ) मृत्युओं को ( परि वृणक्तु ) हटावे ॥

**भावार्थ**—जो विद्वान् सूर्य विद्या, भूमि विद्या, वायुविद्या, ओषधि अर्थात् अन्न, वृक्ष, जड़ी बूटी आदि की विद्या, पशु अर्थात् सब जीवों की पालन विद्या और जल विद्या वा सूक्ष्म तन्मात्राओं की विद्या में निपुण हैं उनके सत्संग और उनके कर्मों के विचार से शिक्षा ग्रहण करके और पदार्थों के गुण, उपकार और सेवन को यथार्थ समझ कर मनुष्य अपना सब जीवन शुभ कर्मों में व्यतीत करें, और दुराचरणों में अपने जन्म को न गमाकर सुफल करें ॥ ३ ॥

**टिप्पणी**—(पशु) शब्द जीववाची है, देखो अथर्व० २ । ३४ । १ ।

घञ् । यद्वा । अन्तर्मध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्य तत् अन्तरिक्षम् । पृषोदरादित्वात् ईकारस्य ह्रस्वः, ऋकारस्य इकारः । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा-इति । भगवान् यास्कः, निरु० २ । १० । सर्वम-  
ध्ये दृश्यमाने । आकाशे । ओषधीषु । १ । २३ । १ ओषधि-ङीप् ओषध्यः फल, पाकान्ता बहुषुष्पफलोपगाः । इति मनुः, १ । ४६ ॥ इति कदलीव्रीहियवफल-  
धान्यादिषु । पशुषु । अर्जिर्दृशिकभ्यमिपसीति० । उ० १ । २७ । इति दृशिर्-  
प्रेक्षणे-कु, पश्यादेशः । पश्यन्ति दृश्यन्ते वा ते पशवः । प्रणिमात्रेषु, सर्वजीवेषु ।  
अप्सु । १ । ४ । ३ । आप्लु-क्लिप् । व्यापिकासु सूक्ष्मतन्मात्रासु । यथा श्री-  
मद्ब्रह्मसंहिताभाष्ये यजुः । ३७ । २५, २६ । जलेषु वा । अन्तः । मध्ये । ते ।  
सर्वे देवा यूयम् । कृणुत । कुरुत । जरस्म् । म० २ । जरस् स्तुतिः । अर्श  
आदिभ्यो ऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । स्तुतियुक्तम् । प्रशंस-  
नीयम् । आयुः । एतेर्णिच्चि । उ० २ । ११८ । इति इण् गतौ-उसि । ईयते प्रा-  
प्यते यत्तद् आयुः । जीवनम्, जीवितकालः । अस्मै । आत्मने, मह्यम् । शतम् ।  
अपरिमितान् । अन्यान् । स्तुत्यजीवनाद् भिन्नान् मृत्यून परि+वृणक्तु ।  
वृजी वर्जने-लोट् । अयम् उपासकः परिवर्जयतु । मृत्यून् । भुजिमृङ्भ्यां  
युक्त्युक्तौ । उ० ३ । २१ । इति मृङ् प्राणत्यागे-त्युक् । प्राणवियोगान्, मरणानि ।  
अत्र पश्यत अ० २ । २८ । १ । तथा ङ । २ । २७ ॥

य ईशं पशुपतिः पशुनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

जो पशुपति चौपाये और दोपाये पशुओं [अर्थात् जीवों] का राजा है ।

( अण्डु ) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में । देखो श्रीमद्बुद्धयानन्द भाष्य, यजुर्वेद ३७ । २५ और २६ ॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च  
देवाः । येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तस्तान् वे  
अस्मै सन्नसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

येषाम् । प्र-याजाः । उत । वा । अनु-याजाः । हुत-भागाः ।  
अहुत-अदः । च । देवाः । येषाम् । वः । पञ्च । प्र-दिशः । वि-  
भक्ताः । तान् । वः । अस्मै । सन्न-सदः । कृणोमि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( येषाम् ) जिन [तुम्हारे] ( प्रयाजाः ) उत्तम पूजनीय कर्म  
( उत वा ) और ( अनुयाजाः ) अनुकूल पूजनीय कर्म, और ( हुतभागाः ) देने  
लेने के विभाग ( च ) और ( अहुतादः ) यज्ञ वा दान से बचे पदार्थों के आहार  
( देवाः ) विजय करने द्वारे [वा प्रकाश वाले] हैं । और ( येषाम् वः ) जिन तुम्हारे  
( पञ्च ) विस्तीर्ण [वा पांच] ( प्रदिशः ) उत्तम दान क्रियायें [वा प्रधान दिशाएँ]  
( विभक्ताः ) अनेक प्रकार घटी हुयी हैं ( तान् वः ) उन तुम को ( अस्मै ) इस  
[ पुरुष ] के हित के लिये [ अपने लिये ] ( सन्नसदः ) सभासद् ( कृणोमि )  
यनाता हूँ ॥ ४ ॥

४—प्र-याजाः । अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा०३।३।१६ । इति प्र +  
यज द्वेषपूजासकृत्करणदानेषु - घञ् । प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे । पा०७।३ । ६२ ।  
इति कुत्वप्रतिषेधो निपात्यते । प्रकृष्टपूजनीयकर्माणि । वा । समुच्चये, पाद-  
पूरणे वा । अनु-याजाः । अनु + यज-घञ् पूर्ववत्-अनुकूलानि पूजनीयकर्माणि ।  
हुतभागाः । हुदानादा नदनेषु-क्त । भज भागसेचयौ-भावे घञ् । हुतस्य, दत्तस्य,  
दानस्य गृहीतस्य वा विभागाः । अहुत-अदः । संपदादिभ्यः क्विप् वाति-  
कम्, पा०३ । ३ । ६४ । अहुत + अद भक्षणे-भावे क्विप् । अदानस्य दानशेषस्य

भावार्थ—जो धर्मात्मा विद्वान् पुरुष स्वार्थ छोड़ कर दान करते हैं और सब संसार के हित में दत्तचित्त हों, राजा उन महात्माओं को चुन कर अपनी राजसभा का सभासद् बनावे ॥ ४ ॥

यज्ञशेष के भोजन के विषय में भगवान् श्री कृष्ण महाराज ने कहा है।  
भगवद्गीता अ० ४ श्लोक ३१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । नायं  
लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुमसत्तम ॥ १ ॥

यज्ञ [दान वा देवपूजा] से बचे अमृत का भोजन करने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करने वाले का यह लोक नहीं है, हे कौरवों में श्रेष्ठ ! फिर उसका परलोक कहां से हो ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १,२ अनुष्टुप् ३, ४ त्रिष्टुप् उप-  
रिष्ठाज ज्योतिः, ११×३+८ = ४१ ॥

पुरुषार्थानन्दोपदेशः—पुरुषार्थ और आनन्द के लिये उपदेश ॥

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।

इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा व्रयम् ॥ १ ॥

भोजनानि । धान्यधनादीनि । देवाः । १।७।१ विजयिनः । प्रकाशमयाः ।  
पञ्च । सप्यशभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पचि व्यक्तिकारे विस्तारे च  
कनिन् । विस्तीर्णाः, व्यक्ताः प्रसिद्धाः । संख्यावाची वा । प्र-दिशः । प्र + दिश  
दाने आशापने च-क्लिप् । प्रकृष्टा दानक्रियाः । प्राच्याद्याः सर्वा दिशाः वि-भक्ताः ।  
वि + भज-क्त । प्राप्तविभागाः । अस्मै । आत्मने, मदर्थम् । सच्च-सदः । गुधृवी-  
पचिवचियमिसदिज्ञदिभ्यस्तः । उ० ४ । १६७ । इति षट् च विशरणागत्यवसाद-  
नेषु ऋप्रत्ययः । सीदन्ति यत्रेति सत्रं सदनं यज्ञः । सभास्थानम् । पुनः । सत्सु द्विष  
डुह० । पा० ३ । २ । ६१ । इति सत्रोपपदे तस्मादेव धातोः-कर्तरि विवप् । सभा-  
सदः, सभ्यान् । कृणोमि । कृवि हिंसाकरणयोः-तट् । करोमि ॥

आशानाम् । आशा-पालेभ्यः । चतुः-भ्यः । अमृतेभ्यः ।  
इदम् । भूतस्य । अधि-अक्षेभ्यः । विधेम । हविषा । वयम् ॥१॥

भाषार्थ—( इदम् ) इस समय ( वयम् ) हम ( आशानाम् ) सब दिशा-  
ओं के मध्य ( आशापालेभ्यः ) आशाओं के पालने हारे, ( चतुर्भ्यः ) प्रार्थना के  
योग्य [अथवा, चार भर्म अर्थ काम और मोक्ष ] ( अमृतेभ्यः ) अमर रूप वाले,  
( भूतस्य ) संसार के ( अक्षेभ्यः ) प्रधानों की ( हविषा ) भक्ति से ( विधेम )  
सेवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उत्तम गुण वाले पुरुषों अथवा चतुर्वर्ग, धर्म,  
अर्थ, काम [ईश्वर में प्रेम] और मोक्ष की, प्राप्ति के लिये सदा पूर्ण पुरुषार्थ करना  
चाहिये । इन के ही पाने से मनुष्य की सब आशाएँ वा कामनाएँ पूर्ण  
होती हैं ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चत्वारु स्थनं देवाः ।

ते त्वां निऋत्याः पार्श्वेभ्यो मुञ्चतां हसोऽग्रहसः ॥ २ ॥

१—आशानाम् । आङ् + अशू व्याप्तौ-पचाद्यच्, टाप् । दिशानां मध्ये ।  
आशा-पालेभ्यः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति आशा + पल वा पाल,  
रक्षणे-शण् । दिशानाम् आकांक्षानां वा पालकेभ्यः । लोकपालेभ्यः । चतुः-  
भ्यः । चतुःसंख्याकेभ्यः, धर्मार्थकाममोक्षेभ्यः । अमृतेभ्यः । मृतं  
मरणम् । मरणरहितेभ्यः, अमरेभ्यः, महायशस्विभ्यः । इदम् । इदानीम् ।  
भूतस्य । लोकस्य । अधि-अक्षेभ्यः । अध्यक्षति समन्ताद् व्य प्रोति ।  
अधि + अक्ष व्याप्तौ मंहती-अच् । व्यापकेभ्यः । अधिपतिभ्यः । विधेम । १  
१२ । २ । परिचरेम ( विधेम ) इत्यस्य प्रयोगे बहुधा कर्मणि चतुर्थी दृश्यते, यथा  
कस्मै देवाय हविषा विधेम । य० १३ । ४ । हविषा । १ । १२ । २ ।  
आत्मदानेन, भक्त्या ॥

ये । आशानाम् । आशा-पालाः । चत्वारः । स्थन । देवाः ।  
ते । नः । निः-ऋत्याः । पाशेभ्यः । मुञ्चत । अंहसः—अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे प्रकाशमय देवताओ ! ( ये ) जो तुम ( आशा-  
नाम् ) सब दिशाओं के मध्य ( चत्वारः ) प्रार्थना के योग्य [ अथवा चार ]  
( आशापालाः ) आशाओं के रक्षक ( स्थन ) वर्तमान हो , ( ते ) वे तुम ( नः )  
हमें ( निःऋत्याः ) अलक्ष्मी वा महामारी के ( पाशेभ्यः ) फंदों से और ( अंहसो-  
अंहसः ) प्रत्येक पाप से ( मुञ्चत ) छड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक सब उत्तम पदार्थों [ अथवा चारों  
पदार्थ , धर्म , अर्थ , काम और मोक्ष ] को प्राप्त कर के सब क्लेशों का नाश  
करना चाहिये ॥ २ ॥

अस्त्रामस्त्वा ह्रविषा यजाम्यश्लेणस्त्वा घृतेन  
जुहोमि । य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स  
नः सुभुतमेह वक्षत् ॥ ३ ॥

२—आशानाम् । म० १ । दिशानां मध्ये । आशा-पालाः । म० १ ।  
आकांक्षानाम् पालकाः , लोकपालाः । चत्वारः । म० १ । याचनीयाः प्रार्थ-  
नीयाः । चतुःसंख्यका धर्मार्थकाममोक्षा वा । स्थन । तपत्नपन्थनाश्च ।  
पा० ७ । १ । ४५ । इति अस भुवि लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने थनादेशः । यूयं  
स्त भवत । देवाः । हे दिव्यगुणाः पुरुषाः । निःऋत्याः । निः + ऋ हिंसने  
क्तिन् । नितराम् ऋतिर्घृणा अशुभं वा यस्याः सा निऋतिः, तस्याः । अलक्ष्म्याः ।  
उपद्रवस्य । पाशेभ्यः । पश बाधे, अन्धे-घञ् । बन्धनेभ्यः । मुञ्चत । मुञ्च  
मोक्षे । मोचयत । अंहसः—अंहसः । अमेहुक् च । उ० ४ । २१३ । इति अम  
रोगे, पीड़ने- असुन् , हुक् आगमः । नित्यवीप्सयोः, पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्व-  
चनम् । सर्वस्माद् दुःखात् , पापात् ॥



अस्त्रामः । त्वा । हविषा । यजामि । अश्लोणः । त्वा । घृतेन  
जुहोमि । यः । आशानाम् । आशा-पालः । तुरीयः । देवः ।  
सः । नः । सु-भूतम् ॥ आ । इह । वृक्षत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] ( अस्त्रामः ) भ्रम रहित मैं ( त्वा ) तुझ को  
( हविषा ) भक्ति से ( यजामि ) पूजता हूँ , ( अश्लोणः ) लंगड़ा न होता हुआ मैं  
( त्वा ) तुझ को ( घृतेन ) [ ज्ञान के ] प्रकाश से [ अथवा घृत से ] ( जुहोमि )  
स्वीकार करता हूँ । ( यः ) जो ( आशानाम् ) सब दिशाओं में ( आशापालः )  
आशाओं को पालन करने वाला , ( तुरीयः ) थड़ा वेगवान् परमेश्वर [ अथवा,  
चौथा मोक्ष ] ( देवः ) प्रकाशमय है , ( सः ) वह ( नः ) हमारे लिये ( इह )  
यहां पर ( सुभूतम् ) उत्तम पेश्वर्य ( आ + वृक्षत् ) पहुंचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निरालस्य होकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन  
करते हैं अथवा जो घृत से अग्नि के समान प्रतापी होते हैं वे शीघ्र ही जगदी-  
श्वर का दर्शन करके [ अथवा धर्म , अर्थ , और काम की सिद्धि से पाये हुये  
चौथे मोक्ष के लाभ से ] महासमर्थ होजाते हैं ॥ ३ ॥

३—अस्त्रामः । अमु तपःखेदयोः-घञ् । शस्य सकारः । भ्रमरहितः ,  
खेदरहितः । त्वा । त्वाम् , परमेश्वरम् । हविषा । म० १ । भक्त्या ।  
यजामि । पूजयामि । अश्लोण । श्लोण संघाते=राशीकरणे-अच् ।  
रस्य लः । अश्लोणः, अपङ्गः । घृतेन । अञ्चिघृत्सिभ्यः कः । उ० ३ । ८६ ।  
इति घृ भासे-भावे क । दीप्तया , सज्ञानप्रकाशेन । आज्येन । जुहोमि ।  
१ । १५ । १ । अहम् आददे , स्वीकरोमि । यः । आशापालः । आशानाम् ।  
म० १ । दिशानाम् । आशा-पालः । म० १ । इच्छापालकः । तुरीयः । तुरो  
वेगः , अस्त्यर्थे छ् प्रत्ययः । तुरवान् , वेगवान् परमेश्वरः [ अथवा । चतुरश्र-  
यतावाद्यक्षरलोपश्च । वार्तिकम् । पा० ५ । २ । ५१ । इति चतुर-छ् , चकार-  
लोपश्चः । चतुर्थः । चतुर्णां पूरको । मोक्षः-इति ] सु-भूतम् । सु + भू सस्तायां  
भावे क । सुभूतिम् । सु सुष्टु प्रभूतं धनम् , आ-समन्तात् । इह । अत्र ।

सायणभाष्य में ( अस्त्रामः ) के स्थान में [ अश्रामः ] और ( अश्लोणः ) के स्थान में [ अश्रोणः ] हैं वे अधिक शुद्ध जान पड़ते हैं ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो  
जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो  
अस्तु ज्योगे व दृशेम सूर्यम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति । मात्रे । उत । पित्रे । नः । अस्तु । स्वस्ति । गोभ्यः ।  
जगते । पुरुषेभ्यः । विश्वम् । सु-भूतम् । सु-विदत्रम् । नः ।  
अस्तु । ज्योक् । एव । दृशे-म । सूर्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( नः ) हमारी ( मात्रे ) माता के लिये ( उत ) और ( पित्रे )  
पिता के लिये ( स्वस्ति ) आनन्द ( अस्तु ) होवे, और ( गोभ्यः ) गौश्रों के  
लिये ( पुरुषेभ्यः ) पुरुषों के लिये और ( जगते ) जगत् के लिये ( स्वस्ति )  
आनन्द होवे । ( विश्वम् ) संपूर्ण ( सुभूतम् ) उत्तम ऐश्वर्य और ( सुविदत्रम् )

वसत् । वह प्रापणे-लेटि अडागमः, द्विकर्मकः । आवहेत्, प्रापयेत्, आदृत्य  
दद्यात् ।

४—स्वस्ति । १ । ३० । २ । ज्योमम्, मङ्गलम् । मात्रे । १ । २ । १ मान-  
नीयायै जनन्यै । पित्रे । १ । २ । १ । पालकाय, जनकाय । गोभ्यः । १ । २ ।  
३ । गन्तव्याभ्यः प्रापणीयाभ्यः धेनुभ्यः, गवादिपशुभ्यः । जगते । वर्तमाने पृषद्-  
वृहन्महज् जगन्-छतृषञ्च । उ० २ । ८४ । इति गभस्त-अति । निपातितश्च ।  
गतिशीलाय ससाराय । पुरुषेभ्यः । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अम-  
गत्याम्-कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति । पुत्रभृत्यादिमनुष्येभ्यः । विश्वम् ।  
सर्वम् । सु-भूतम् । म० ३ । प्रभूतमैश्वर्यम् । सुविदत्रम् । सुविदेः कत्रन् ।  
उ० ३ । १०८ । इति सु+विद ज्ञाने, विदूत् लाभे वा-कत्रन् । यास्कस्तु द्वेषा  
युत्पादयामास । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्वाद् ददातेर्वारयाद्

उत्तम धान वा कुल (नः) हमारे लिये ( अरतु ) हो, ( ज्योक् ) बहुत कालतक ( सूर्यम् ) सूर्य को ( एव ) ही ( दृशेम ) हम देखते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आदि अपने कुटुम्बियों और अन्य माननीय पुरुषों और गौ आदि पशुओं से लेकर सब जीवों और संसार के साथ उपकार करते हैं, वे पुरुषार्थी सब प्रकार का उत्तम धन, उत्तम ज्ञान और उत्तम कुल पाते और वही सूर्य जैसे प्रकाश मान होकर दीर्घ आयु अर्थात् बड़े नाम को भोगते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१—४ ॥ ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविचारोपदेशः—ब्रह्म विचार का उपदेश ॥

इदं जनासो विदथं महद् ब्रह्मं वदिष्यति ।

न तत् पृथिव्यां नो द्विवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

इदम् । जनासः । विदथं । महत् । ब्रह्मं । वदिष्यति । न ।

तत् । पृथिव्याम् । नो इति । द्विवि । येन । प्राणन्ति । वीरुधः ॥१॥

भाषार्थ—(जनासः) हे मनुष्यो ! (इदम्) इस बात को (विदथ) तुम जानते हो, वह [ब्रह्मज्ञानी] (महत्) पूजनीय (ब्रह्म) परम ब्रह्म का (वदिष्यति) कथन करेगा । (तत्) वह ब्रह्म (न) न तो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नो) और न

इत्युपसर्गात्-निरु० ६।७ तथा । सुविदत्रः कल्याणविद्यः-निरु० ६ । १४ । शोभनं धानं कुटुम्ब्या । ज्योक् । १ । ६ । ३ । चिरकालम् । दृशेम । दृशिर प्रेक्षणे-आशीर्लिङ् । वयं पश्येम । सूर्यम् । १ । ३ । ५ । आदित्यम् । भानुप्रकाशम् ॥

१—इदम् । वक्ष्यमाणम् । जनासः । १ म । १ । आञ्ज सेरसुक । पा० ७ । १ । ५० । इति जसि असुक । हे जनाः, विद्वांसः । विदथ । विद ज्ञाने अदादिः-लट मध्यमबहुवचनं छन्दसि शः । यूयं वित्थ, जानीथ । महत् ।

(दिवि) सूर्य्यं लोक में है (येन) जिस के सहारे से (वीरुधः) यह उगती हुयीं जड़ी बूटी [लता रूप सृष्टि के पदार्थ] (प्राणन्ति) श्वास लेती हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म भूमि वा 'सूर्य्य' आदि किसी विशेष स्थान में वर्तमान नहीं है तो भी वह अपनी सत्ता मात्र से ओषधि अन्न आदि सब सृष्टि का नियम पूर्वक प्राणदाता है । ब्रह्मज्ञानी लोग उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

केनोपनिषत् में वर्णन है, खंड १ मन्त्र ३ ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न  
विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यादन्यदेव तद्वि-  
दितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये  
नस्तद् व्याचक्षिरे ॥ १ ॥

न वहां आंख जाती है, न घायी जाती है, न मन, हम न जानते हैं न पहिचानते हैं कैसे वह इस जगत का अनुशासन करता है । वह जाने हुये से भिन्न है और न जाने हुये से ऊपर है । ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है, जिन्हों ने हमें उसकी-शिक्षा दी थी ॥

१ । १० । ४ । पूजनीयम् ब्रह्म । १ । ५ । ४ । परब्रह्म, परमात्मानम्, परमकारणम्, वदिष्यति । वद वाक्ये—लृट् । कथयिष्यति । न । निषेधे । तत् । ब्रह्म । पृथिव्याम् । १ । २ । १ । प्रख्यातायां भूमौ । नो इति । न- उ । नैष । दिवि । १ । ३० । ३ । ध्रु लोके, सूर्यमण्डले । येन । ब्रह्मणा । प्राणन्ति । प्र+अन जीवने, अदादिः । जीवन्ति, श्वसन्ति । वीरुधः । विशेषेण रुणधि वृक्षानन्यान् सा वीरुत् । वि+रुध आवारणे-क्विप्, दीर्घश्च । अथवा । वि+रुह प्रादुर्भावे-क्विप् । न्यङ्कादीनां च पा० ७ । ३ । ३५ । इति हस्य धः । विरोहण-शीलाः । विस्तता लतादयः । लतादिवद् विरोहिताः सृष्टिपदार्थाः ॥

और भी केनोपनिषत् का वचन है, अ० १ म० ८ ॥

यत् प्राणे न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ २ ॥

जो प्राण द्वारा नहीं श्वास लेता है । जिस करके प्राण चलाया जाता है ।  
उस को ही तू ब्रह्म जान, यह वह नहीं है जिसके पास वे बैठते हैं ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थामं श्रान्तसदामिव ।

आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥२॥

अन्तरिक्षे । आसाम् । स्थामं । श्रान्तसदाम्-इव ।

आ-स्थानम् । अस्य । भूतस्य । विदुः । तत् । वेधसः । न । वा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) सब के भीतर दिखाई देने वाले आकाश रूप परमेश्वर में (आसाम्) इनका [ लतारूप सृष्टियों का ] (स्थामं) ठहराव है (श्रान्तसदाम् इव) जैसे थक कर बैठे हुये यात्रियों का पड़ाव । (वेधसः) बुद्धिमान लोग (तत्) उस ब्रह्म को (अस्य भूतस्य) इस संसार का (आस्थानम्) आश्रय (विदुः) जानते हैं, (वा) अथवा (न) नहीं [ जानते हैं ] ॥२॥

भाषार्थ—सूर्य आदि असंख्य लोक उसी परमब्रह्म में ठहरे हैं, वही समस्त जगत् का केन्द्र है । इस बात को विद्वान् लोग विधि और निषेध रूप

२—अन्तरिक्षे । १३०३३ सर्वमध्ये दृश्यमाने परमेश्वरे । आसाम् । वीरधाम् । म० १ । विरोहणाशीलानां पदार्थानाम् । स्थाम । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४४ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन् । स्थानं । स्थितिः । श्रान्त-सदाम् । श्रमु तपःखेदयोः—भावे क्त + ष्ठल् विशरणगत्यवसादनेषु-विषप् । अमेण मार्गखेदेन स्थितानाम् । आ-स्थानम् । आ + ष्ठा—लुट् । स्थानम् । आश्रयम् । अस्य । परिदृश्यमानस्य । भूतस्य । लोकस्य ; जगतः । विदुः । विद् ज्ञाने—लट् । विदन्ति जानन्ति । तत् । कारणभूतं ब्रह्म । वेधसः । १ । ११ । १ । मेधाविनः, विद्वांसः । न । निषेधे । वा । अथवा ॥

विचार से निश्चिन करते हैं. जैसे ब्रह्म जड़ नहीं है किन्तु चैतन्य है, इत्यादि, अथवा जितना अधिक ब्रह्मज्ञान होता जाता है उतना ही वह अनन्त, ब्रह्म अगम्य और अति अधिक जान पड़ता है इससे वह ब्रह्मज्ञानी अपने को अज्ञानी समझते हैं ॥ २ ॥

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।

आर्द्रं तद्व्य सर्वदा समुद्रस्यैव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

यत् । रोदसी (इति) । रेजमाने इति । भूमिः । च । निः-अतक्षतम् ।  
आर्द्रम् । तत् । अद्य । सर्वदा । समुद्रस्यैव । स्रोत्याः ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—( रोदसी = सि ) हे सूर्य ( च ) और ( भूमिः ) भूमि । ( रेजमाने ) कांपते हुये तुम दोनों ने ( यत् ) जिस [ रस ] को ( निरतक्षतम् ) उत्पन्न किया है, ( तत् ) वह ( आर्द्रम् ) रस ( अद्य ) आज ( सर्वदा ) सदा से ( समुद्रस्य ) सींचनेवाले समुद्र के ( स्रोत्याः ) प्रवाहों के ( इव ) समान वर्तमान है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस रस वा उत्पादन शक्ति को, परमेश्वर ने सूर्य और भूमि को ( कम्पमान ) घस में रख के, सृष्टि के आदि में उत्पन्न किया था वह शक्ति

३—यत् । आर्द्रम् । रोदसी । एकवचनं स्त्री । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति रुध्र आवरणे—असुन् । पिद् गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । शुलोको भूमिर्वा । सम्योधने दीर्घशृङ्गान्दसः । हे रोदसि । सूर्यलोक । रेजमाने । रेजृ कम्पने-शानच् । भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः-निरु० ३ । २१ । उभे कम्पमाने । भूमिः । १ । ११ । २ । भवन्ति पदार्था अस्यामिति । पृथिवी । निः-अतक्षतम् । तद् तनूकरणे-लङ् । युवामुदपादयतम् । आर्द्रम् । अर्द्धदीर्घश्च । उ० २ । १८ । इति अर्द्ध घथे, गतौ-रक्, दीर्घश्च । क्लेदनं रसत्वम् उत्पादनसामर्थ्यम् । तत् । प्रसिद्धम् । अद्य । १ । १ । १ । वर्तमाने दिने । समुद्रस्य । १ । ३ । ८ । समुन्दनशीलस्य सागरस्य, अर्णवस्य । स्रोत्याः । पुंलि० स्रोतसो विभाषा ङ्यङ्यौ । पा० ४ । ४ । ११३ । इति स्रोतस्-ङ्य। डिच्वात् टि लोपः । स्रोतसि भवाः, जलप्रवाहाः ॥

मेघ आदि रस रूप से सदा संसार में सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है ॥ ३ ॥

**टिप्पणी**—सायणभाष्य में ( रोदसी इति ) यह पद पाठ और उसका अर्थ [ हे धावापृथिव्यौ ] हे सूर्य और भूमि अशुद्ध है । यहां ( रोदसी ) एक पचन और केवल सूर्य वाची है क्योंकि ( भूमिः च ) [ और भूमि ] यह पद मन्त्र में वर्तमान हैं । फिर ( भूमिः च ) का भी अर्थ [ भूमि और द्युलोक ] उक्त भाष्य में है ॥

विश्वमन्यामभिवारु तदन्यस्यामधि श्रितम् ।

दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

विश्वम् । अन्याम् । अभि-वारु । तत् । अन्यस्याम् । अधि ।  
श्रितम् । दिवे । च । विश्व-वेदसे । पृथिव्यै । च । अकरम् । नमः ॥४॥

**भाष्यार्थः**—(विश्वम्) उस सर्व व्यापक [रस]ने (अन्याम्) एक [सूर्य वा भूमि] का (अभि) चारों ओर से (वारु=ववार) घेर लिया, (तत्) वही [रस] (अन्यस्याम्) दूसरी में (अश्रितम्) आश्रित हुआ । (च) और (दिवे) सूर्य रूप वा आकाश रूप (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी रूप (विश्ववेदसे) सब के जानने वाले [धा सब धनों के रखने वाले, धा सब में विद्यमान ब्रह्म]को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैंने किया है ॥ ४ ॥

**भावार्थ**—सृष्टि का कारण रस अर्थात् जल, सूर्य की किरणों से आकाश

४—विश्वम् । १।१०।२। सर्वं व्याप्तं आर्द्रम् । म० ३ । अन्याम् । एकाम् च भूमिं वा । अभि वारु । वृज् वरणे-लिट् । वकार लोपश्छान्दसः । सर्वतो ववार, आच्छादितं चकार । तत् । आर्द्रम् । अन्यस्याम् । अपरस्याम् । अधि+श्रितम् । आश्रितम् । दिवे । १।३०।३ । आकाशाय । तदरूपाय । विश्व-वेदसे । विद् ल लामे, वा विद् ज्ञाने सत्तायां च-असुन् ॥ सर्वधन-युक्तायै, सर्वाधारभूतायै । पृथिव्यै । १।२।१ । विस्तीर्णायै भूम्यै, तदरूपाय परमेश्वराय । अकरम् । डुकृञ् करणे-लुङ् । अहं कृतवानस्मि ॥

में जाकर फिर पृथिवी में प्रविष्ट होता, वही फिर पृथिवी से आकाश में जाता और पृथिवी पर आता है । इस प्रकार उन दोनों का परस्पर आकर्षण , जगत् को उपकारी होता है । विद्वान् लोग इसी प्रकार जगदीश्वर की अनन्त शक्तियों को विचार कर सत्कार पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

यजुर्वेद म० ३ । अ० ५ । में इस प्रकार वर्णन है—

**भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भुम्ना पृथिवीव वरिम्णा ॥**

सब का आधार , सब में व्यापक , सुखस्वरूप परमेश्वर बहुत्व के कारण [ सब लोकों के धारण करने से ] आकाश के समान और अपने फैलाव से पृथिवी के समान है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१—४ ॥ आपो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूक्ष्मतन्मात्राविचारः—सूक्ष्म तन्मात्राओं का विचार ॥

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता  
यास्वग्निः । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता  
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥

हिरण्य-वर्णाः । शुचयः । पावकाः । यासु । जातः । सविता ।  
यासु । अग्निः । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सु-वर्णाः ।  
ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[जो] ( हिरण्यवर्णाः ) [व्यापनशील वा कमनीय रूप वाली ( शुचयः ) निर्मल स्वभाव वाली और ( पावकाः ) शुद्धि की जताने वाली

१—हिरण्य-वर्णाः । हर्यतेः कन्यन् हिर च । उ० ४ । ४४ । इति हर्य गति-  
कान्त्योः—कन्यन् , हिर आदेशश्च, नित्वाद् आद्युदान्तः । कृवृजृसिद्गुपन्यनिस्वपि-  
भ्यो नित् । उ० ३ । १० । इति वृज् वरणे-न, स च नित् । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व-



हैं, ( यासु ) जिनमें ( सविता ) चलाने वा उत्पन्न करने हारा सूर्य और ( यासु ) जिनमें ( अग्निः ) [ पार्थिव ] अग्नि ( जातः ) उत्पन्न हुई । ( याः ) जिन ( सुवर्णाः ) सुन्दर रूप वाली ( आपः ) तन्मात्राओं ने ( अग्निम् ) [ विजुली रूप ] अग्नि को ( गर्भम् ) गर्भ के समान ( दधिरे ) धारण किया था, ( ताः ) वे [ तन्मात्राये ] ( नः ) हमारे लिये ( शम् ) शुभ करने हारी और ( स्योनाः ) सुख देने वाली ( भवन्तु ) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने कामना के और खोजने के योग्य तन्मात्राओं के संयोग वियोग से अग्नि, सूर्य, और विजुली, इन तीन तेजधारी पदार्थ आदि सब संसार को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मनुष्यों को शुभ गुणों के प्रदण और दुर्गुणों के त्याग से आपस में उपकारी होना चाहिये ॥ १ ॥

१-(आपः) = व्यापक तन्मात्राये-भीमद् दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद २७ । २५ ॥

२-( आपः ) के विषय में सूक्त ४, ५ और ६ और सूक्त ४ में मनु महाराज का श्लोक भी देखें ॥

पदम् । पा० ६ । २ । १ । इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तः । कमनीयरूप-युक्ताः, गतिशीलरूपयुक्ताः । प्रकाशस्वरूपाः । शुचयः । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति शुचिर् शौचे = शुद्धौ-इन्, स च कित् । शुद्धस्वभावाः । पावकाः । पूञ् शोधे-वञ् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति कै शब्दे-कः । उपपदमतिङ् । पा० २ । २ । १६ । इति समासः । टाप् । यद्वा । पूञ् एवञ् । टाप् । पावकादीनां छन्दसीति । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इत्वं निषिद्धम् । पावस्य शुद्धव्यवहारस्य शब्दयिज्यः, आपयिज्यः । पावयिज्यः, शोधयिज्यः । यासु । अप्तु । जातः । जनी प्रादुर्भावे-क । प्रादुर्भूतः, उत्पन्नः । सविता । १ । १८ । २ । सूर्यः । अग्निः । १ । ६ । २ । पार्थिवाग्निः । अग्निम् । वैद्युताग्निम् । गर्भम् । १ । ११ । २ । पदार्थेषु गर्भवत् स्थितम् । दधिरे । दुग्धाञ् धारण-पोषणयोः-लिट् । दधुः, स्थायामासुः । सु-वर्णाः । वृञ्-न । शोभनरूपाः । नः । अस्मभ्यम् । आपः । १ । ५ । १ । व्यापिकास्तन्मात्राः-इति भीमद् दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २५ ॥ शम् । १ । ३ । १ । शुभकारिण्यः । स्योनाः । सिंवेष्टेर्यु च । उ० ३ । ६ । इति पितु तन्तुसन्ताने-न प्रत्ययः । टिभागस्य यू इत्यादेशः । स्योनं सुखनाम, निघ० । ३ । ६ । अर्शादिभ्योऽच् पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वथे अच् । सुखवत्यः ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अंव-  
पश्यन् जनानाम् । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता  
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति सत्य-  
अनृते । अंव-पश्यन् । जनानाम् । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे ।  
सु-वर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यासाम् ) जिन तन्मात्राओं के ( मध्ये ) बीच में ( वरुणः )  
सर्वश्रेष्ठ ( राजा ) राजा परमेश्वर ( जनानाम् ) सब जन्मवाले जीवों के  
( सत्यानृते ) सत्य और असत्य को ( अंवपश्यन् ) देखता हुआ ( याति )  
चलता है । ( याः ) जिन ( सुवर्णाः ) सुन्दर रूप वाली ( आपः ) तन्मात्राओं ने  
( अग्निम् ) विजुली रूप अग्नि को ( गर्भम् ) गर्भ के समान ( दधिरे ) धारण  
किया था, ( ताः ) वे [ तन्मात्राओं ] ( नः ) हमारे लिये ( शम् ) शुभ करनेवाली  
और ( स्योनाः ) सुख देने वाली ( भवन्तु ) हों ॥ २ ॥

भावार्थ—इन तन्मात्राओं का नियन्ता अर्थात् संयोजक और वियोजक  
( वरुण राजा ) परमेश्वर है, वही सब जीवों के पुण्य पाप को देखकर यथावत् फल  
देता है । इनके गुणों से उपकार ले कर मनुष्यों को मृत्यु भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—यासाम् । अपाम् तन्मात्राणाम् । राजा । १ । १० । १ । ईश्वरः ।  
नियन्ता । वरुणः । १ । ३ । ३ । वृषोति सर्वं, वियते अन्यैरिति वरुणः । सर्व-  
वरणीयः परमेश्वरः । याति । गच्छति । व्याप्नोति । मध्ये । अघ्न्यादयश्च ।  
उ०४ । ११२ । इति मन ज्ञाने-यक्, नस्य धः । अन्तर्वर्तिनि भागे । सत्य-अनृते ।  
सद्भ्यो हितम् । सत्-यत् । सत्यं, यथार्थं, तथ्यम् । न ऋतम् । अनृतम् असत्यम्,  
मिथ्याकरणम् । सत्यं च असत्यं च उभे कर्मणी । अंव-पश्यन् । दशिर-शत् ।  
अवलोकयन् विजानन् । जनानाम् । १ । ८ । १ । जन्मवतां लोकानाम् । अन्यद्  
गतम् म० १ ॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भुक्षं या अन्तरिक्षे  
बहुधा भवन्ति । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता  
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥

यासाम् । देवाः । दिवि । कृण्वन्ति । भुक्षम् । याः । अन्तरिक्षे ।  
बहु-धा । भवन्ति । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सु वर्णाः ।  
ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) सब प्रकाशमय पदार्थ ( दिवि ) व्यवहार के योग्य  
आकाश में ( यासाम् ) जिनका ( भक्षम् ) भोजन ( कृण्वन्ति ) करते हैं और  
( याः ) जो [ तन्मात्रायै ] ( अन्तरिक्षे ) सब के मध्यवर्ती आकर्षण में ( बहुधा )  
अनेक रूपों से ( भवन्ति ) घर्त्तमान हैं । और ( याः ) जिन ( सुवर्णाः ) सुन्दर  
रूप वाली ( आपः ) तन्मात्राओं ने ( अग्निम् ) [ विजुली ] रूप अग्नि को ( गर्भम् )  
गर्भ के समान ( दधिरे ) धारण किया था, ( ताः ) वो [ तन्मात्रायै ] ( नः )  
हमारे लिये ( शम् ) शुभ करने हारी और ( स्योनाः ) सुख देने वाली ( भवन्तु )  
होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपरिमित तन्मात्रायै ईश्वर कृत परस्पर आकर्षण से संसार  
के ( देवाः ) सूर्य, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थों के धारण और पोषण का  
कारण हैं । ( देवाः ) विद्वान् लोग इन के सूक्ष्म विचार से संसार में अनेक  
उपकार करके सुख पाते हैं ॥ ३ ॥

३—यासाम् । अपाम् । देवाः । १।७।१ । व्यावहारिकपदार्थाः ।  
प्रकाशमयाः किरणाः । दिवि । १।३०।३ । व्यवहारयोग्ये आकाशे । जग-  
ति । कृण्वन्ति । कृवि हिंसाकरणयोः । कुर्वन्ति । भक्षम् । भक्ष अदने-कर्म-  
णि घञ् । भक्ष्यम्, अन्नम्, पोषणम् । याः । आपः । अन्तरिक्षे । १।३०।३  
मध्ये दृश्यमाने आकर्षणसामर्थ्ये । बहु-धा । विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले ।  
पा० पू । ४ । २० । इति बहु + धा । बहुप्रकारेण, अविप्रकृष्टकाले । भवन्ति ।  
वर्तन्ते । अन्यद् व्याख्यातम् म० १ ॥

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वापं  
स्पृशतु त्वचं मे । घृतश्चतः शुचयो याः पावकास्ता  
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

शिवेन । मा । चक्षुषा । पश्यत । आपः । शिवया । तन्वा ।  
उप । स्पृशतु । त्वचम् । मे । घृत-श्चतः । शुचयः । याः ।  
पावकाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥४॥

भाषार्थ—(आपः) हे तन्मात्राओ ! ( शिवेन ) मुनप्रद ( चक्षुषा ) नेत्र  
से ( मा ) मुझ को ( पश्यत ) तुम देखो, ( शिवया ) अपने मुनप्रद ( तन्वा )  
रूपसे ( मे ) मेरे ( त्वचम् ) शरीर को ( उप स्पृशत ) तुम स्पर्श करो । ( याः )  
जो ( आपः ) तन्मात्रायें ( घृतश्चतः ) अमृत बरसाने वाली, ( शुचयः ) निर्मल  
स्वभाव और ( पावकाः ) शुद्धि जताने वाली हैं, ( ताः ) वह [तन्मात्रायें] ( नः )  
हमारे लिये ( शम् ) शुभ करने हारी और ( स्योनाः ) सुख देने वाली ( भवन्तु )  
होवें ॥ ४ ॥

४—शिवेन । सर्वनिघृण्वरिष्व० । उ० १ । १५३ । इति शौल् शयने  
यद्वा, शो तनूकरणे-घन् । क्षेरते विद्यन्ते शुभगुणा यत्र, वा शयति अशुभानीति ।  
सुखकरेण । मा । माम् । चक्षुषा । चक्षुः शिञ्च । उ० २ । ११६ । इति  
चक्ष कथने दर्शने च-उत्ति । स च शित् । शित्वात् ख्याआदेशाभावः । लोचनेन,  
नयनेन, । पश्यत । अवलोकयत । आपः । म० १ । हे सूक्ष्मतन्मात्राः ।  
शिवया । कल्याण्या, दृष्टप्राप्तिहेतुभूतया । तन्वा । १ । १ । १ । रूपेण ।  
उप+स्पृशत । संस्पृशत । त्वचम् । १ । २४ । २ । शरीरम् । घृत-श्चतः ।  
घृ दीप्तौ सेके च-क्त । घृतं सारः, अमृतम् । श्चतिर् क्तत्वे क्तिर् । अमृतम् । विण्यः  
अन्यद् व्याख्यातम् म० १ ॥

भावाय—(आपः) तन्मात्रायें मुझे नेत्र से देखें, अर्थात् पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त हो और उस से हमारे शरीर और आत्मा स्वस्थ रहें। अथवा, ( आपः ) शब्द से तन्मात्राओं के ज्ञाता और वशयिता परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष का ग्रहण है। जो मनुष्य सृष्टि के विज्ञान से शरीर का स्वास्थ्य और आत्मा की उन्नति करके उपकारी होते हैं उन के लिये परमेश्वर की कृपा से सदा अमृत अर्थात् स्थिर सुख वरसता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ वीरुद् ( लता ) देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।

मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

इयम् । वीरुत् । मधु-जाता । मधुना । त्वा । खनामसि ।

मधोः । अधि । प्र-जाता । असि । सा । नः । मधु-मतः । कृधि ॥१॥

भाषार्थ—( इयम् ) यह तू ( वीरुत् ) बढ़ती हुई [ विद्या ] ( मधुजाता ) ज्ञान से उत्पन्न हुई है, ( मधुना ) ज्ञान के साथ ( त्वा ) तुझ को ( खनामसि ) हम खोदते हैं। ( मधोः अधि ) विद्या से ( प्रजाता असि ) तू जन्मी है ( सा )

१—इयम् । पुरोवर्तिनी त्वम् । वीरुत् । १ । ३२ । १ । विरोहणशीला विस्तृता लतारूपा विद्या । मधु-जाता । १ । ४ । १ । मन ज्ञाने-उ, धश्चान्ता-देशः । जनी-क । मधुनो ज्ञानात् क्षौद्रात् वा यथा उत्पन्ना । मधुना । १ । ४ । १ । ज्ञानेन, क्षौद्रसेन यथा वा । त्वा । त्वाम् वीरुधम् । खना-मसि । खनु अवदारणे-लट्, मस इत्वम् । खनामः, अवदारयामः अन्वेषणेन प्राप्नुमः । मधोः । पुंलिंगे । वसन्तर्तुसकाशात् । खियाम् । विद्यायाः सकाशात् । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादी । प्र-जाता । प्रादुर्भूता । असि । वर्त्तसे । सा । सा त्वम् । नः । अस्मान् । मधु-मतः । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुप ।

सो तू ( नः ) हमको ( मधुमतः ) उत्तम विद्या वाले ( कृधि ) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द [ मन, जानना-उ, न=ध ] का अर्थ ज्ञान है । धात्वर्थ के अनुसार यह आशय है कि शिक्षा के ग्रहण, अभ्यास, अन्वेषण और परीक्षण से मनुष्य को उत्तम सुखदायक विद्या मिलती है ॥ १ ॥

### दूसरा अर्थ ॥

( इयम् वीरुत् ) यह तू फैलती हुई बेल ( मधुजाना ) मधु ( शहत् ) से उत्पन्न हुई है ( मधुना ) मधु के साथ ( त्वा ) तुझ को ( खनामसि ) हम खोदते हैं । ( मधोः अधि ) वसन्त ऋतु से ( प्रजाता असि ) तू जन्मी है, ( सा ) सो तू ( नः ) हमको ( मधुमतः ) मधु रस वाले ( कृधि ) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द उसी धातु [ मन जानना ] से सिद्ध होकर [ शहत् ] के रस का वाचक है । इस अर्थ में विद्या को मधुलता अर्थात् शहत् की बेल वा प्रेमलता माना है । ( मधु ) शहत् वसन्त ऋतु में अनेक पुष्पों के रस से मधुमक्षिकाओं द्वारा मिलता है, इसी प्रकार ( मधुना ) प्रेम-रस के साथ ( खोदने ) अर्थात् अन्वेषण और परीक्षण से विद्वान् लोग अनेक विद्वानों से विद्यारूप मधु को पाकर ( मधु ) आनन्द रस का भोग करते हैं ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्रं मधुं मे जिह्वामूले मधूलकम् ।

ममेदहं क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

जिह्वायाः । अग्रं । मधुं । मे । जिह्वा-मूले । मधूलकम् । मम । इत् । अहं । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—( मे ) मेरी ( जिह्वायाः ) रस जीतने वाली, जिह्वा के ( अग्रं ) सिरे पर ( मधु ) ज्ञान [ वा मधु का रस ] होवे और ( जिह्वामूले ) जिह्वा की

पां० ५ । २ । ६४ । इति प्रशंसायां मतुप् । प्रशस्ताज्ञानयुक्तान्, क्षौद्ररसोपेतान् वा यथा । कृधि । कुरु ॥

२—जिह्वायाः । १ । १० । ३ । जयति रसमनया । रसनायाः । अग्रं ।

मूल में ( मधूलकम् ) ज्ञान का लाभ [वा मधु का स्वादु] होवे । ( मम ) मेरे ( कर्तौ ) कर्म वा बुद्धि में ( इत् ) ही ( अह ) अवश्य ( असः ) तू रह, ( मम चित्तम् ) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुँच करती है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या को रटन, मनन, और परीक्षण से प्रेम पूर्वक प्राप्त करते हैं, तब विद्या उन के हृदय में घर करके सुख का बरदान देती है ॥२॥

मधु<sup>१</sup>मन्मे नि<sup>२</sup>क्रमण<sup>३</sup>म् । मधु<sup>१</sup>मन्मे पुरायण<sup>४</sup>म् ।

वाचा वदामि मधु<sup>१</sup>मद् भूयास्<sup>५</sup> मधु<sup>१</sup>संदूशः ॥ ३ ॥

मधु<sup>१</sup>-मत् । मे । नि-क्रमणम् । मधु<sup>१</sup>-मत् । मे । पुरा-अयनम् ।  
वाचा । वदामि । मधु<sup>१</sup>-मत् । भूयास्<sup>५</sup> । मधु<sup>१</sup>-संदूशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरा ( निक्रमणम् ) पास आना ( मधुमत् ) बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ, और (मे) मेरा ( परायणम् ) बाहिर जाना ( मधुमत् )

ऋजेत्राप्रवज्जविप्र० । उ० २ । २८ । इति अग्नि गतौ-रन् । उपरिभागे । मधु ।  
म० १ । ज्ञानं क्षौद्ररसो वा । जिह्वा-भूले । मूशक्यविभ्यः क्लः । उ० ४ । १०८ ।  
इति मूड् यन्वे-क्ल । सवते वधाति वृद्धादिकं मूलम्, जिह्वाया रसनाया मूलभागे ।  
मधूलकम् । मधु + उर गतौ-क, रस्य लत्वम्, स्वार्थे कन् । यद्वा मधु + लक  
स्वादे, प्राप्ता च-अच्, दीर्घत्वम् । मधुनो ज्ञानस्य प्राप्तिः । मधुनः क्षौद्रस्य स्वादः ।  
मम । मदीये । इत् । एव । अह । अवश्यम् । कर्तौ । कृजः कतुः । उ०  
१ । ७६ । इति कृञ्-फतु । कतुः, कर्म-निघ० २ । १ । प्रक्षा-निघ० ३ । ६ ।  
कर्मणि बुद्धौ वा । असः । १ । १६ । ४ ॥ त्वं भूयाः । चित्तम् । चित्ता ज्ञाने-  
क । अन्तः करणम् । उप-आयसि । उप + आङ् + अयङ् गतौ-लट् । उपा-  
गच्छसि, आदरेण सर्वतः प्राप्नोषि ॥

३—मधु-मत् । म० १ । अतिविज्ञानयुक्तम् । मधुरसोपेतम् । नि-क्रम-  
णम् । नि + क्रम् गतौ-ल्युट् । निकटगमनम्, आगमनम् । पुरा-यअनस्य

बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ होवे । ( वाचा ) वाणी से मैं ( मधुमत् )  
बहुत ज्ञान वाला वा रसयुक्त ( वदामि ) बोलूँ और मैं ( मधुसन्देशः ) ज्ञान रूप  
वाला वा मधुर रूप वाला ( भूयासम् ) रहूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य घर, सभा, राजद्वार, देश, परदेश आदि में आने,  
जाने, निरीक्षण, परीक्षण, अभ्यास आदि समस्त चेष्टाओं और वाणी से योलने  
अर्थात् शुभ गुणों के ग्रहण और उपदेश करने में ( मधुमान् ) ज्ञान वाच् वा  
रस से भरे अर्थात् प्रेम में मग्न होते हैं, वही महात्मा ( मधुसन्देश ) रसीले  
रूप वाले अर्थात् संसार भर में शुभ कर्मी होकर उपकार करते हैं ॥ ३ ॥

मधोरस्मि मधु'तरो म्दुघान्मधु'मत्तरः ।

मामित् किलु त्वं वनाः शाखां मधु'मतीमिव ॥ ४ ॥

मधोः । अस्मि । मधु'-तरः । म्दुघात् । मधु'मत्-तरः ।

माम् । इत् । किल । त्वम् । वनाः । शाखां । मधु'मतीम्-इव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( मधोः ) मधुर रस से मैं ( मधुतरः ) अधिक मधुर ( अस्मि )  
होऊँ, ( म्दुघात् ) लड्डू [ वा मुलहटी ओषधि ] से भी ( मधुमत्तरः ) अधिक  
मधुर रस वाला होऊँ । ( त्वम् ) तू ( माम् इत् ) मुझ से ही ( किल ) निश्चय

परा+अय गतौ-ल्युट् । दूरगमनम् प्रस्थानम् । वाचा । १ । १ । १ । वाण्या ।

वदामि । वद वाचि-लिङ्गर्थे लट् । कथ्यासम् उच्ययासम् । भूयासम् ।

भू सत्तायाम्-आशिपि लिङ् । अहं स्याम् । मधु-सन्देशः । इगुपधक्षाप्री-

किरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति मधु+सम्+दशिर् प्रेक्षे = चाक्षपज्ञाने-क ।

ज्ञानरसरूपः, मधुरदर्शनः ॥

४—मधोः । म० १ । मधुररसात्, क्षौद्ररसात् । अस्मि । अहं भवानि ।

मधु-तरः । द्विवचनविभज्योपपदे तरवीयसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ । इति मधु+

तरप् । अधिकमाधुर्योपेतः । म्दुघात् । मोदकात् । मुद हर्षे-एबुल् । छान्दसं

रूपम् मिष्टखाद्यविशेषात् । यद्वा [ मधुकात् ] मधु+कै-क । मधु मधुरं कायति



करके ( वनाः ) प्रेमकर, ( हव ) जैसे ( मधुमतीम् ) मधुर रसवाली ( शाखाम् ) शाखा से [ अनुराग करते हैं ] ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्या का रस सांसारिक स्वादिष्ट मिष्टान्न आदि रोचक पदार्थों से बहुत ही रसीला अर्थात् अधिक लाभदायक और उपकारी होता है। जैसे जैसे ब्रह्मचारी यत्न पूर्वक विद्या की लालसा करता है वैसे ही वैसे विद्या देवी भी उस से अनुराग करती है ॥ ४ ॥

मनु महाराज ने कहा है—अ० ४ श्लोक २० ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥१॥

जैसे जैसे ही पुरुष शास्त्र को पढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अधिक विद्वान् होता जाता है, और विज्ञान में उसकी रुचि होती है ॥

परि त्वा परित्तनुने क्षुणागासविद्विषे ।

यथा मां कामिन्यसौ यथा मन्नापगाअसुः ॥ ५ ॥

परि । त्वा । परि-तनुने । क्षुणा । गास । अवि-द्विषे । यथा ।  
माम् । कामिनी । असुः । यथा । सत् । न । अप-गाः । असुः ॥५॥

शब्दयति विज्ञापयतीति मधुकम् । यष्टिमधुकायाः, ओपधिविशेषात् । सायण-  
भाष्ये तु ( मधुघात् ) = मधुदुघात्, मधु + दुह प्रपूरणे-कप्, घत्वं च, मधु-  
शब्दे धुलोपश्रृण्णन्दसः, मधुस्त्राविणः पदार्थविशेषात्-इति वर्तते । मधुसत्-तरः ।  
मधु + मतुप् + तरप् पूर्ववत् । पा० ५ । ३ । ५७ । अधिकतरमधुमान्, उपकारि-  
तरः । माम् । विद्यार्थिनं ब्रह्मचारिणम् । किल । प्रसिद्धौ, निश्चयेन । त्वस् ।  
विद्ये । वनाः । वन संभक्तौ—लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति  
आडागमः । त्वं संभजेः, संघस्य, कामयेथाः । शाखास् । शाख व्याप्तौ-  
अच्, टाप् । वृत्ताङ्गविशेषम् । मधुमतीम् । म० १ । मधु + मतुप्—डीप् ।  
मधुररसयुक्ताम् ॥

भाषार्य—( परितन्नुना ) बहुत फैली हुई ( इक्षुणा ) लालसा के साथ [ अथवा , ऊख जैसी मधुरता के साथ ] ( अविद्विषे ) बैर छोड़ने के लिये ( त्वा ) तुझ को ( परि ) सब ओर से ( अगाम् ) मैंने पाया है । ( यथा ) जिस से तू ( माम् कामिनी ) मेरी कामना करने वाली ( असः ) होवे, और ( यथा ) जिस से तू ( मत् ) मुझ से ( अपगाः ) विछुड़ने वाली ( न ) न ( असः ) होवे ॥ ५ ॥

भाषार्य—जय ब्रह्मचारी पूर्ण अभिलाषा से विद्या के लिये प्रयत्न करता है तो कठिन से कठिन भी विद्या उस को अवश्य मिलती और अभीष्ट आनन्द देती है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा २ । ३० । १ और ६ । ८ । १—३ में भी है ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—४ ॥ हिरण्यं देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सुवर्णादिधनलाभोपदेशः—सुवर्ण आदि धन प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

यदावध्रन् दाक्षायुणा हिरण्यं शतानीकाय सुमन-  
स्यमानाः । तत् ते वध्राम्यायुषे वर्चसे वलाय  
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥

५—परि । सर्वतो भावेन । त्वा । त्वाम् मधुलतां विद्याम् । परि-  
तन्नुना । दाभाभ्यां लुः । उ० ३ । ३२ । इति याहुलकात् । तनु विस्तारे-नु  
प्रत्ययः । सर्वत्रव्याप्तेन । इक्षुणा । इषेः कसुः । उ० ३ । १५७ । इति इष इच्छा-  
याम्-कसु । अभिलाषेण , यद्वा । गुडवृक्षेण प्रेमरूपेण । अगाम् । इण् गतौ-  
लुङ् । प्राप्तवानस्मि । अवि-द्विषे । न + वि + द्विष वैरे-भावे विवप् । वैर-  
त्यागार्थम् । यथा । येन प्रकारेण । माम् । ब्रह्मचारिणम् । कामिनी ।  
अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति काम-इनि । डीप् । अकेनोर्भविष्यदाध-  
मर्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति द्वितीया । माम् कामयमाना । असः । १ । १६  
४ । त्वम् भवेः , भूयाः । मत् । मत्तः । न । निषेधे । अप-गाः । आतो  
मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति अप + गाङ् गतौ-विष् ।  
अपयानशीला , प्रस्थानशीला , वियोगिनी ॥

यत् । आ-अबध्न् । दाक्षायणाः ( = दक्ष-अयनाः ) । हिरण्यम् ।  
शुत-अनीकाय । सु-मनस्यमानाः । तत् । ते । बध्नामि । आयुषे ।  
वर्चसे । बलाय । दीर्घायु-त्वाय । शत-शरदाय ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यत् ) जिस ( हिरण्यम् ) कामनायोग्य विज्ञान वा सुवर्णादि  
को ( दाक्षायणाः ) बल की गति रखने वाले, परम उत्साही ( सुमनस्यमानाः )  
शुभचिन्तकों ने ( शतानीकाय ) सौ सेनाओं के लिये ( अबध्न् ) बांधा है ।  
( तत् ) उस को ( आयुषे ) लाभ के लिये, ( वर्चसे ) यश के लिये, ( बलाय )  
बल के लिये और ( शतशरदाय ) सौ शरद् ऋतुओं वाले ( दीर्घायुत्वाय )  
चिरकाल जीवन के लिये ( ते ) तेरे ( बध्नामि ) मैं बांधता हूँ ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार कामना योग्य उत्तम विज्ञान और धन आदि से

१—यत् । हिरण्यम् । आ । समन्तात् । अबध्न् । बन्ध बन्धने-लङ् ।  
अधारयन्, अस्थापयन् । दाक्षायणाः । दक्ष-अयनाः । दक्ष वृद्धौ-अच् । दक्षते  
प्रवृद्धये समर्थो भवतीति । दक्षः, बलम् । निघ० २ । ६ । अय गतौ-ल्युट् । अयनं  
गतिः । पूर्वपददीर्घत्वं छान्दसम् । दक्षस्य बलस्य अयनं गतिर्येषां ते दक्षायणाः ।  
परमोत्साहिनः शरवीरा विद्वांसो वा । हिरण्यम् । १ । ६ । २ । कमनीयं  
विज्ञानं । सुवर्णादिकं धनम् । शत-अनीकाय । दिक्लङ्घये संज्ञायाम् । पा० २ । १ ।  
५० । इति तत्पुरुषः । शतसेनाप्राप्तये । सु-मनस्यमानाः । कर्तुः ष्यङ् सलो-  
पश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति मनस्-ष्यङ्, विकल्पत्वाद्ब्र सकारभावः, ततो  
लटः शानच् । शोभनं मनः कुर्वन्ते सुमनस्यन्ते सुमनायन्ते वा ते सुमनस्यमानाः,  
शोभनं ध्यायन्तः शुभचिन्तकाः सज्जनाः । बध्नामि । बन्ध बन्धने-क्रयादि ।  
धारयामि । आयुषे । १ । ३० । ३ । ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः । आयाय,  
लाभाय । वर्चसे । १ । ६ । ४ । तेजसे, यशसे । बलाय । १ । १ । १ । पराक्र-  
माय । दीर्घायु-त्वाय । दृ विदारणे-षङ् । छन्दसीणः । उ० १ । २ । इति  
इण् गतौ-उण्-आयुः । भावे त्वप्रत्ययः । लम्बमानजीवनाय, चिरकालजीवनाय ।  
शतं-शरदाय । सन्धिबेलाद्यतुनक्षत्रेभ्योऽण् । पा० ४ । ३ । १६ । इति श-  
रद्-अण् । शरदतोः संबन्धी कालः संवत्सरः । शतंसंवत्सरयुक्ताय ॥

दूरदर्शी, शुभचिन्तक, शूर वीर विद्वान् लोग बहुत सेना लेकर रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य विज्ञान और धन की प्राप्ति से संसार में कीर्ति और सामर्थ्य बढ़ावें और अपना जीवन सुफल करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है । अ० ३४ म० ५२ ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानाम्भोजः  
प्रथमजं ह्ये ३' तत् । यो विभर्ति दाक्षायणं हिर-  
ण्यं स जीवेषु' कृणुते दीर्घमायुः' ॥ २ ॥

न । एनस् । रक्षांसि । न । पिशाचाः । सहन्ते । देवानाम् ।  
भोजः ॥ प्रथम-जम् । हि । एतत् । यः । विभर्ति । दाक्षाय-  
णम् ( = दक्ष-अयनम् ) । हिरण्यम् । सः । जीवेषु' । कृणुते ।  
दीर्घम् । आयुः' ॥ २ ॥

भाषार्थ—( न ) न तो ( रक्षांसि ) हिंसा करनेहारे राक्षस और ( न ) न  
( पिशाचाः ) मांसाहारी पिशाच ( एनम् ) इस पुरुष को ( सहन्ते ) दबा सकते  
हैं, ( हि ) क्योंकि ( एतत् ) यह [ विज्ञान वा सुवर्ण ] ( देवानाम् ) विद्वानों का  
( प्रथमजम् ) प्रथमउत्पन्न ( भोजः ) सामर्थ्य है । ( यः ) जो पुरुष ( दाक्षायणम् )

२—न । निषेधे । एनस् । हिरण्यधारिणं पुरुषम् । रक्षांसि । १।२१।  
३ । राक्षसाः, नष्टबुद्धयः स्वार्थिनः । पिशाचाः । १ । १६।३ । मांसभक्षिणः  
पिशिताशिनो महाद्रुःखदायिनः । सहन्ते । अभिभवन्ति, बाधन्ते । देवानाम् ।  
विदुषाम् । भोजः । १ । १२।१ । पराक्रमः । प्रथम-जम् । प्रथेरमच् । उ०  
५ । ६८ । इति प्रथ क्त्वात्-अमच्+जनी-ड । प्रथमतो मातापितृगुरुकारिता-  
भ्यासत उत्पन्नम् । हि । खलु, यस्मात् कारणात् । एतत् । हिरण्यम् । यः ।  
पुरुषः । विभर्ति । भृञ् भरणधारणपोषणेषु-जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः ।  
दधाति । दाक्षायणम् । म० १ । बलस्य गतियुक्तम्, परमोत्साहवर्धकम् ।

बल की गति बढ़ाने वाले ( हिरण्यम् ) कमनीय तेजः स्वरूप विज्ञान वा सुवर्ण की ( विभर्त्ति ) धारण करता है. ( सः ) वह ( जीवेषु ) सब जीवों में ( आयुः ) अपनी आयु को ( दीर्घम् ) दीर्घ ( कृणुते ) करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष ( प्रथमजम् ) प्रथम अवस्था में गुणी माता, पिता और आचार्य से ब्रह्मचर्य सेवन करके शिक्षा पाते हैं, वह उत्साही जन सब विघ्नो को हटा कर दुष्ट हिंसकों के फंदे में नहीं फंसते हैं, और वही सत्कर्मी पुरुष विज्ञान और सुवर्ण आदि धन को प्राप्त करके संसार में यश पाते हैं, इसी का नाम दीर्घ आयु करना है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुड्भ भेद से यजुर्वेद में है, अ० ३४ म० ५१ ॥

अ॒पां ते॒जो ज्यो॒तिरो॒जो ब॒लं च॒ व॒न॒स्पती॑नामु॒त  
वी॒र्या॑णि । इन्द्र॑ इ॒वेन्द्रि॒याण्य॑धि॒ धार॑यामो अ॒स्मिन्  
तद् दक्ष॑माणो विभ॒रुद्वि॑रण्यम् ॥ ३ ॥

अ॒पाम् । ते॒जः । ज्यो॒तिः । ओ॒जः । ब॒लम् । च॒ । व॒न॒स्पती॑नाम् ।  
उ॒त । वी॒र्या॑णि । इन्द्रे॑-इव । इन्द्रि॒याणि॑ । अ॒धि । धा॒रया॑सुः ।  
अ॒स्मिन् । तत् । दक्ष॑माणः । विभ॒रत् । हि॒र॒ण्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अपाम् ) प्राणों वा प्रजाओं के ( तेजः ) तेज, ( ज्योतिः ) कान्ति, ( ओजः ) पराक्रम ( च ) और ( बलम् ) बल को ( उत ) और भी हिरण्यम् । म० १ । कमनीयं विज्ञानं सुवर्णादिकं वा । जीवेषु । इगुपधज्ञा-प्रीकरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणाने-क । प्राणिषु । कृणुते । कृष् हिंसाकरणयोः, स्वादिः । करोति । दीर्घम् । म० १ । दृ विदारणे-घञ् । लम्बमानम् । आयुः । म० १ । इण्-उत्ति । जीवनम् ॥

३—अ॒पाम् । आप्नो॑तेह स्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्तु व्याप्तौ-क्विप् । आप्नवन्ति शरीरमिति आपः । प्राणानाम् । आप्तानां प्रजानां वा । यथा श्रीमद्-दयानन्दभाष्ये । आपः = प्राणा जलानि वा । यजुः ४ । ७ । पुनः । आप्ताः प्रजाः ।

( वनस्पतीनाम् ) सेवनीय गुणों के रक्षक विद्वानों की ( वीर्याणि ) शक्तियों को ( अस्मिन् अधि ) इस [ पुरुष ] में ( धारयामः ) हम धारण करते हैं , ( इव ) जैसे ( इन्द्रे ) बड़े पेश्वर्य वाले पुरुष में ( इन्द्रियाणि ) इन्द्र के चिन्ह , [ यड़े बड़े पेश्वर्य ] होते हैं । [ इस लिये ] ( दक्षमाणाः ) वृद्धि करता हुआ यह पुरुष ( तत् ) उल्ल ( हिरण्यम् ) कमनीय विज्ञान वा सुवर्ण आदि को ( विभ्रत् ) धारणकरे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों के सत्संग से महा प्रतापी , विक्रमी , तेजस्वी , गुणी पुरुष वृद्धि करके विज्ञान और धन संचय करे और सामर्थ्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

समानां मासाम्तुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पर्यसा  
पिपर्मि । इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्वन्ताम-  
हृणीयमानाः ॥ ४ ॥

समानास् । मासास् । ऋतु-भिः । त्वा । वयस् । सु-वत्स-  
रस्ये । पर्यसा । पिपर्मि । इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः ।  
ते । अनु । मन्वन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

य० ६ । २७ । तेजः । तिज निशाने-अस्तुन् । दीप्तिः , कान्तिः । रेतः , सारः ।  
ज्योतिः । १ । ६ । १ । प्रकाशः , कान्तिः । ओजः । म० २ । पराक्रमः ।  
बलम् । म० १ । सामर्थ्यम् । शौर्यम् । वनस्पतीनाम् । १ । १२ । ३ । वन +  
पतिः , सुट् च । वृक्षाणाम् । अथवा । सेवनीयगुणपालकानां लज्जनानां पाल-  
कानाम् । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजु० २७ । २१ । वनस्पते = वनस्य संभज-  
नीयस्य शास्त्रस्य पालक । वीर्याणि । १ । ७ । ५ । सामर्थ्यानि । रेषांसि ।  
इन्द्रे । १ । २ । ३ । परमेश्वर्यवति पुरुषे । इन्द्रियाणि । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग-  
मिन्द्रदृष्टिमिन्द्रसृष्टिमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ६३ । इन्द्रस्य  
लिङ्गानि चिह्नानि । परमेश्वर्याणि , धनादीनि । अधि । उपरि । धारयामः ।  
स्थापयामः । अस्मिन् । पुरुषे । तत् । तस्मात् कारणात् । दक्षमाणाः ।  
वक्ष वृद्धौ-शानच् । वर्धमानः पुरुषः । विभरत् । इमृञ् धारणपोषणयोः-लेट् ।  
धारयेत् , विभर्तु । हिरण्यम् । म० १ । कमनीयं धनम् ॥

भाषार्थ—( वयम् ) हम लोग ( त्वा ) तुझ को [ आत्मा को ] ( समानाम् ) अनुकूल ( माम्नाम् ) महीनों की ( ऋतुभिः ) ऋतुओं से और ( संवत्सरस्य ) वर्ष के ( पयसा ) दुग्ध वा रस से ( पिपर्मि = पिपर्मः ) पूर्ण करते हैं । ( इन्द्राग्नी ) वायु और अग्नि [ वायु और अग्नि के समान गुण वाले ] ( ते ) वह ( विश्वे देवाः ) सब दिव्य गुणयुक्त पुरुष ( अहशीयमानाः ) संकोच न करते हुये ( अनु मन्यन्ताम् ) [ हम पर ] अनुकूल रहें ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य महीनों, ऋतुओं और वर्षों का अनुकूल विभाग करते हैं, वह वर्ष भर की उपज, अन्न, दूध, फल पुष्प आदि से पुष्ट रहते हैं,

४—इसानाम् । पम वैक्लव्ये-पचायच् । अविपमानाम् । पूर्णानाम् । साधूनाम्, अनुकूलानाम् । माम्नाम् । सर्वथातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति माङ् माने-अनुन् । माम्नाम् । ऋतु-भिः । अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । इति ऋ गतौ—तु, स च कित् । वसन्तादिकालविशेषैः । त्वा । त्वाम् पुरुषम् । सम्-वत्सरस्य । संपूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति सम्+वस निवासे—सरन्, सस्य तकारः । संवत्सन्ति ऋतवा यत्र । वर्षस्य, द्वादशमासात्मकस्य कालस्य । पयसा । पय गतौ वा पीड् पाने—असुन् । दुग्धेन सारेण वा, धान्यफलादिना, इत्यर्थः । पिपर्मि । पृ पालनपूरणयोः, जुहांत्यादिः । एकवचनं हुक्-चन्ने । वयं पिपर्मः पालयामः, पूरयामः । इन्द्राग्नी । वायवग्नी । यथा श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, य० २१ । २० । इन्द्राग्नी = इन्द्रश्चाग्निश्च तौ वायवाग्नी । तद्बुद्ध गुणवन्तः । विश्वे । सर्वे । देवाः । दिव्यगुणाः पुरुषाः । अनु-मन्यन्ताम् । अनु+मन बोधे-लोट् । अनुजानन्तु, स्वीकुर्वन्तु, अनुकूलं कुर्वन्तु । अहशीयमानाः । कण्डवादिभ्यो यक् । पा० ३ । १ । २७ । इति ह्यर्णाङ् रोपणे लज्जायां वैमनस्ये च-यक् । डिच्वाद् आत्मनेपदम् । ततः शानच् । ह्यर्णायते = क्रुध्यति, निघ० २ । १२ । अक्रुध्यन्तः, असङ्गचन्तः ॥

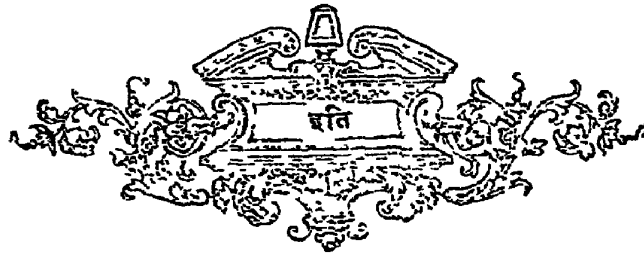
और वायु के समान वेग वाले, और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् महात्मा  
उस पुरुषार्थी मनुष्य के सदा शुभचिन्तक होते हैं ॥ ४ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति प्रथमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीस्रयाजीरावगायकवाडा-  
धिष्ठितबडोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेद-  
भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपरिडतक्षेमकरसादासत्रिवेदिना  
कृते अथर्ववेदभाष्ये प्रथमं काण्डं  
समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे रक्षावन्धनतिथौ १९६६ तमे  
विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-  
श्रीराजराजेश्वर जार्जपञ्चम-  
महोदयस्य सुसामूल्ये  
सुसमाप्तिमगात् ॥





# हमारे अन्य वैदिक ग्रन्थ ।



४-हवनमंत्राः—मर्यात् चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण और हवन मन्त्र, विधि आदि, सरल भाषानुवाद, टिप्पणी, शब्द संग्रह आदि सहित बड़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ५६ मूल्य ॥॥

— जंक्षित समालोचनायें —

सद्धर्म प्रचारक, गुरुकुल काँगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८...आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते । उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग ता० २८ अप्रैल १९१२...इस में ईश्वर स्तुति, स्वास्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मंत्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं ।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है ।

वेद प्रकाश, मेरठ, मई १९१२ ।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है ।

महाशय, खुशीराम जी गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ।...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके यद्वा उपकार किया है । आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्कुरेजी अनुवाद सहित वी. पी. द्वारा भेज दें

५—रुद्राध्याय—सुप्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्कुरेजी में शिक्षा, शब्दसाधन आदि सहित । बड़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ॥२॥

६—तथा—मूलमात्र, बड़िया रायल अठपेजी पृ० १४ मूल्य ॥॥

## क्षेमकरणदास त्रिवेदी

५२ लूकरगंज, प्रयाग

